है) किनको ? जीवों को। इसलिये नियन्ता कहलाता हैं और जीव नियम्य हैं। यदि नियम्य जीव न हों तो ब्रह्म नियन्ता नहीं कहला सकता। शतपथ ब्रा० १४। ५। ३० में स्पष्ट लिखा है।

"य आत्मानमन्तरो यमयति—अर्थात् जो जीवात्मा के भीतर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है।

उपास्यदेव—उपासक के विना उपास्य देव नहीं कहला सकता, वह उपासक हैं जीव।

पथप्रदर्शक—किस पथिक का है? वह पथिक है जीवात्मा।

आदि गुरु—है-विना शिष्यों के गुरु नहीं कहला सकता, वह शिष्य हैं जीवात्मा।

अपरिच्छिन्न—असीम (लामहदूद) है। परिच्छिन्न (महदूद) कौन ? जीवात्मा।

वह सुखस्वरूप (आनन्द स्वरूप) है। यदि दुःख न होता तो सुख शब्द ही न होता। निरानन्द न होता तो आनन्द शब्द ही न होता। जीव दुःख भोगता है निरानन्द है। इसलिये परमात्मा सुखस्वरूप (आनन्द स्वरूप) कहलाता है।

वह मोक्षस्वरूप (बंधन रहित) है। यदि कोई बंधन में न आता तो मोक्ष (मुक्ति) शब्द ही न होता। जीव बंधन में आता है। ब्रह्म बंधन-रहित है। इसलिये मोक्षस्वरूप (मुक्ति-स्वरूप) कहलाता है।

वह अजर, अमर है जो कभी वृद्ध नहीं होता, जो कभी मरता नहीं। तो फिर कौन वृद्ध होता है और मरता है ? वह है शरीरधारी जीव। यदि जीव और शरीर का संयोग-वियोग न होता तो जन्म,मरण और जरावस्था (वृद्धावस्था) के शब्द

ही न होते और ब्रह्म अजर-अमर न कहलाता। जीव भी अजर और अमर है परन्तु शरीर के संयोग और वियोग से इसका जन्म-मरण और वृद्धावस्था होती है। परमात्मा का शरीरों से संयोग-वियोग नहीं होता। वह तो सदैव सबके अन्दर और बाहर रहता है (अस्य, सर्वस्य, अन्तः बाह्यतः)। वह सबके अन्दर भी और बाहर भी है।

वह पवित्र है। तो जरूर कोई अपवित्र भी होगा जिसकी अपेक्षा में इसको पवित्र कहा है। वह अपवित्र कौन है? वह है शरीरधारी पापी जीव जो अपने पापों के कारण शरीर के बंधन में पड़ा है। परमात्मा तो 'शुद्धमपापविद्धम्' है (पवित्र पापरहित है) जीव प्रकृति से युक्त होकर अशुद्ध हो जाता है। परमात्मा से युक्त होकर पवित्र हो जाता है।

वह सृष्टिरचयिता है। यदि ब्रह्म से भिन्न सृष्टि न मानी जाये तो वह सृष्टिरचयिता नहीं कहला सकता।

रची हुई सृष्टि है कार्य और कर्त्ता है ब्रह्म। और कार्य के दो कारण होते हैं एक निमित्त कारण और एक उपादान कारण। सृष्टि का निमित्त कारण है परमात्मा और उपादान कारण है प्रकृति।

वह सर्वज्ञ है, तो अल्पज्ञ कौन? यदि कोई अल्पज्ञ न होता तो परमात्मा सर्वज्ञ न कहलाता। जीव अल्पज्ञ है उसकी अपेक्षा परमात्मा सर्वज्ञ कहलाता है। सर्वज्ञ के अर्थ हैं सर्व=सब कुछ, ज्ञ=जानने वाला। ब्रह्म से अतिरिक्त वह सब कुछ क्या है जिसे वह जानता है?

वह अनुपम है। याने वह (अद्वितीय) लासानी है 'न त्वां वाङ् अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। ऋ० ७।३२।२३' तेरे जैसा कोई दूसरा इस ब्रह्मांड (में) दिव्य लोक (पृथिवी लोक)में नहीं। उस जैसा न कोई पैदा हुआ है, न है, न

होगा जिसके बराबर का कोई नहीं। जिसकी कोई तुलना नहीं। तुलना एक से अधिक (ज्यादा) वस्तुओं में दिखाई जाती है। इसलिये ब्रह्म से भिन्न और वस्तुओं का होना भी जरूरी है तब ही उनकी अपेक्षा ब्रह्म के लिये अनुपम शब्द का प्रयोग हो सकता है। ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाले अनेक जीव और प्राकृतिक जड़ पदार्थ हैं। इन सबमें वह अनुपम हैं। यदि ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं मानोगे तो ब्रह्म को अनुपम नहीं कह सकते।

वह हमारा मित्र है। मित्रता दो के मध्य में होती है। ब्रह्म से भिन्न दूसरा कौन है ? वह है जीव। यदि ब्रह्म से भिन्न जीव को न माना जाये तो ब्रह्म को सखा या मित्र नहीं कह सकते। इसीलिये जब वेद ने जीवात्मा और परमात्मा को सखा कहा है तो "द्वा" दो का शब्द इस्तेमाल किया है। (ऋ० १। १६४। ३०) "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" दो सखा हैं। यदि दो नहीं मानोगे तो इस मन्त्र को वेद से निकाल देना होगा।

वह सर्वशक्तिमान् है। तो अल्पशक्तिवाला कौन ? वह है जीव। इस अल्प शक्ति वाले जीव की अपेक्षा में ब्रह्म को सर्वशक्तिमान् कहा गया है।

"यऽआत्मदा बलदा" "जो आत्म ज्ञान और बल के देने हारा है।" किसको आत्म ज्ञान और बल देता है ? यदि ब्रह्म के सिवा और कोई नहीं तो यह वेद का मन्त्र निरर्थक हो जायेगा। इसलिये मानना पड़ता है कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा अज्ञानी और अल्प शक्ति वाले जीवात्मा को आत्म-ज्ञान और बल देता है, उसकी उन्नति के लिये।

वह सर्वेश्वर है। "वह सबका मालिक है।" वह सब क्या है जिसका वह मालिक है ? समस्त ब्रह्मांड और जीवों का मालिक है। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त किन्हीं और वस्तुओं को

ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाले न मानोगे तो ब्रह्म को मालिक (सर्वेश्वर) नहीं कह सकते।

पूज्य स्वामी जी ! चूंकि परमात्मा के तमाम उपर्युक्त गुण स्वाभाविक हैं इसलिये वह सब गुण भी परमात्मा की तरह अनादि और अनन्त हैं। और यह गुण सार्थक तब हो सकते हैं जब उपर्युक्त पदार्थ भी अनादि और अनन्त हों। इसलिये तमाम जीवों और ब्रह्मांड के तमाम पदार्थों के कारण (प्रकृति) को भी अनादि, नित्य मानना पड़ेगा।

(२) अब कुछ प्रमाण पेश किये जाते हैं जिनसे स्पष्ट मालूम होता है कि जीव, प्रकृति और परमात्मा की तीन भिन्न भिन्न नित्य सत्तायें हैः—

श्वेताश्वतरोपनिषत्—अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणो-ऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

अर्थात्—लाल सफेद और काले रंग की एक अजा है जो अपने ही रूप रग वाली अनेक प्रजाओं को उत्पन्न किया करती है। (यह है प्रकृति)। एक अज है जो उस अजा के साथ प्रीति करता है, उनके साथ सो जाता है यह है जीव एक दूसरा और भी अज है। जो उस अजा को छोड़ देता है (वह है परमात्मा)। अजा का अर्थ है अ+जा, अर्थात् पैदा कभी न होने वाली। "अज" का अर्थ है, अ+ज, अर्थात् पैदा कभी न होने वाला। जो कभी पैदा नहीं होता वह कभी नष्ट भी नहीं होता, उसे अनादि अनन्त कहते हैं। इस प्रकार इस वाक्य में ऋषि लोगों ने तीन वस्तुओं को अनादि और अनन्त बतलाया है। एक अजा अर्थात् प्रकृति, दूसरी वस्तु वह अज है जो अजा अर्थात् प्रकृति से प्रीति करता

है, उस अज का नाम "जीव" है उसे जीवात्मा भी कहते हैं। तीसरी वस्तु वह "अज" है जो अजा से प्रीति में नहीं फंसता अर्थात् अजा को जो छोड़ देता है, जिसे ईश्वर या परमात्मा कहते हैं। श्वेताश्वतर आदि महर्षियों ने एक निर्णय यह किया है कि संसार का निमित्तकारण एक मात्र एक ईश्वर है, दूसरा निर्णय यह किया कि प्रकृति उपादान कारण है अर्थात् ईश्वर ने यह सम्पूर्ण संसार प्रकृति से बनाया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।

ऋ० १।१६४।२०

अर्थात्—अपने जैसे नित्य (प्रकृति रूप) वृक्ष पर स्थित दो पक्षी-रूप सखा (जीवात्मा और परमात्मा) हैं। जिनमें से एक जीवात्मा वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को चखता है और दूसरा (परमात्मा) भोग न करता हुआ साक्षीमात्र है। इस मन्त्र में भी तीन नित्य पदार्थ (जीव, प्रकृति और परमात्मा) बताये हैं। (जीव और ब्रह्म एक ही काल में और एक ही स्थान में व्याप्य-व्यापक होकर स्थित हैं)।

बालादेकमणीयस्कं उतैकं नैव दृश्यते ततः परिष्व-जीयसी देवता सा मम प्रिया॥ अथर्व १०। ८। २५

इस मन्त्र का अर्थ पहले छप चुका है। इस मन्त्र में भी प्रकृति, जीव और परमात्मा की भिन्न-भिन्न सत्ता बतलाई गई है। और चैतन्य जीव को प्रेमी और परमात्मा को प्रियतम बताया गया है। प्यार करने वाला (प्रेमी) और जिससे प्यार किया जाये (प्रियतम) दो होते हैं।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

मुण्डक० ३। १। २

अर्थात् "शरीर रूप वृक्ष पर रहने वाला यह जीवात्मा शरीर में आसक्त होकर डूब रहा है। अपने को असमर्थ समझकर मोहित हो शोक करता रहता है। परन्तु वह जब वहीं (उसी शरीर में) स्थित तथा भक्तजनों द्वारा सेवित अपने से भिन्न परमेश्वर को देख लेता है और उसकी महिमा को समझ लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है।" इस प्रकार इस वाक्य में स्पष्ट शब्दों द्वारा परमेश्वर को जीवात्मा तथा प्रकृति के जड़ शरीररूपी वृक्ष से भिन्न बताया गया है। अतः यहां जीव, प्रकृति और परमात्मा को भिन्न २ बताया गया है।

भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति ते। ऋ० १०।१४२।१

अर्थात्:—"(हि) सचमुच (ते) तेरी (शर्म) शरण (भद्रं) कल्याणकारी (त्रिवरूथमस्ति) तीनों में श्रेष्ठ है।" संसार में तीन आश्रय हैं। (१) प्रकृति का (२) जीवों का (३) तीसरी शरण है जीव और प्रकृतिके अधिष्ठाता परमात्मा की। मानव आश्रय की खोज करता हुआ प्रकृति की शरण में जाता है परन्तु लाभ की अपेक्षा घाटे में रहता है। जड़ प्रकृति तो चेतन जीव की अपेक्षा हीन होती है। जड़ की शरण तो मरण है। अब जीव की शरण में जाता है। जीव प्रकृति की अपेक्षा तो श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) है पर जीव के ज्ञानादि गुणों में तारतम्य है (कमोवेशी है)। इसलिये कभी एक की शरण में जाता है कभी दूसरे की। आखिर निराश होकर परमात्मा की शरण में जाता है जहां उसको सच्चा (आश्रय) सहारा मिल जाता है क्योंकि वह प्रबलों से प्रबल है उसकी शक्ति के सामने सब मन्द पड़ जाते हैं। उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वैश्वर्यवान् का सहारा मिल जाये तो जीव को और क्या चाहिये? इस सहारे को पाकर शान्त हो जाता है और आवेश में आकर कहता है "भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति" ऐ परम पिता परमात्मा! तेरी

शरण तीनों में श्रेष्ठ है। इस मन्त्र में जीव प्रकृति और ब्रह्म की भिन्नता बतालाई गई है।

जीवात्मा और प्रकृति भी अनादि हैं तथा परमात्मा से भिन्न हैं। यह बात गीता में भी १३वें अध्याय के १९वें श्लोक में कही गई है:

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादि उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १३ । १९

(प्रकृतिम् पुरुषं च) प्रकृति और पुरुष (उभौ एव) दोनों को ही (अनादि विद्धि) अनादि जान। (च) और (विकारान् च गुणान् अपि) विकारों तथा गुणों को भी (प्रकृति-सम्भवान् एव विद्धि) प्रकृति से ही उत्पन्न हुये जान।

पुरुष शब्द का प्रयोग जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के लिये होता है। यहां इसका प्रयोग जीवात्मा के लिये हुआ है। प्रकृतिजन्य जो कुछ है, वह सब त्रिगुणात्मक पदार्थ हैं। यहां स्पष्ट जीवात्मा और प्रकृति को अनादि स्वीकार करते हुये (याने सदा से हैं और सदा रहेंगे) कार्यरूप में अवस्थित सृष्टि के व्यापार को प्रकृति का विकार और उसकी त्रिगुणात्मक शक्ति से उत्पन्न बताया गया है। परमात्मा है उत्पादक।

गीता के १५वे अध्याय के निम्नलिखित १६वें, १७वें श्लोकों में भी स्पष्टतया जीव, प्रकृति और ईश्वर को अनादि स्वीकार करते हुये तीनों का पृथक् २ वर्णन किया गया है:—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तम पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इस संसार में दो पुरुष हैं—एक नश्वर (प्रकृति) और

दूसरा अनश्वर (जीव), ये सब भूत पदार्थ (जिनका मूलकारण अनादि प्रकृति है) क्षर कहलाते हैं तथा अक्षर जीव कूटस्थ आत्मा कहलाता है। परन्तु इन दोनों से भिन्न उत्तम पुरुष एक अन्य है जिसे परमात्मा कहते हैं जो इन तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर इनका भरण-पोषण करता है। यहां सम्पूर्ण भूत प्राणियों के प्रकृति से बने हुए शरीरों को नाशवान् और जीवात्मा को अविनाशी कहा गया है और जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है उसको उत्तम पुरुष, अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा कहा है। उनका (प्रकृति, जीव और परमात्मा का) पारस्परिक वैभिन्य बता कर त्रैतवादी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है।

गीता के १८वें अध्याय के ६१वें श्लोक में लिखा है:—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।"

ईश्वर सब भूत-प्राणियों के हृदय में स्थित है।" इस श्लोक में बिल्कुल स्पष्ट है कि सब भूत प्राणी ब्रह्म से पृथक् हैं।

गीता अध्याय २ श्लोक १२ में लिखा है:—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तू नहीं था, अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इस से आगे हम सब नहीं रहेंगे। जिस प्रकार मैं सर्वेश्वर परमात्मा नित्य हूं—इस में कुछ भी सन्देह नहीं, उसी प्रकार तुम सब क्षेत्रज्ञ आत्मगण भी निस्सन्देह नित्य हो, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार जीवों का भगवान् सर्वेश्वर परमात्मा से और जीवों का परस्पर भी भेद यथार्थ है। यह स्वयं भगवान् ने

कहा है अर्जुन को पारमार्थिक नित्यता का उपदेश करते समय।

गीता अध्याय २ श्लोक २२ में लिखा है:—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

"जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।"

इस श्लोक में जीवात्मा की सत्ता परमात्मा से बिलकुल भिन्न बताई गई है क्योंकि जीव जो शरीरों को छोड़ कर दूसरे शरीरों को धारण करता रहता है वह ब्रह्म की तरह अपरिच्छिन्न सत्ता वाला नहीं हो सकता। यह परिच्छिन्न सत्ता वाला है इसीलिये यह शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण कर सकता है। जीव मृतक शरीर में नहीं होता इसको छोड़ कर चला जाता है। परमात्मा मृतक शरीर में भी होता है। यह दोनों में कितना स्पष्ट भेद है।

यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र ५ में लिखा है:—

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।"

(तत्) वह ब्रह्म (एजति) गति देता है। (तत्) परन्तु वह स्वयं (न एजति) गति में नहीं आता (तत्) वह (अस्य, सर्वस्य, अन्तः बाह्यतः) इन सबके अन्दर और बाहर भी है॥

प्रश्न होता है कि वह गति किसको देता है, किस के समीप और किससे दूर है, और किन के अन्दर और बाहर भी है?

यदि ब्रह्म से भिन्न और पदार्थों की सत्ता न मानी जाये तो यह मन्त्र निरर्थक हो जाता है। इसलिये ब्रह्म से अतिरिक्त और पदार्थों को मानना पड़ता है। तमाम प्राकृतिक पदार्थों को गति देता है, स्वयं गति में नहीं आता, क्योंकि सर्वव्यापक है, वह अधर्मात्माओं से दूर है क्योंकि क्रोड़ों वर्ष में भी उनको प्राप्त नहीं होता, वह धर्मात्माओं, योगियों के समीप है, और जगत् के सब प्राकृतिक पदार्थों और जीवों के भीतर और बाहर भी वर्तमान है। जड़ प्रकृति और चैतन्य जीवात्मा की सत्ता यदि ब्रह्म से भिन्न न मानी जाये तो यह मन्त्र सार्थक नहीं हो सकता। प्रश्न —परमात्मा सर्वव्यापक है इसलिये गति में नहीं आता। परन्तु ब्रह्मांड के तमाम पदार्थ तो गति में आये हुए हैं तो क्या इस गति में आये हुए ब्रह्माण्ड को ब्रह्म कह सकते हैं? कभी नहीं। इसलिये प्रकृति से बना हुआ ब्रह्मांड ब्रह्म से भिन्न है।

ऋग्वेद ८। ६६। १३ में लिखा है:—

न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥

अर्थात् "तुझसे अन्य कोई सुख देने वाला निश्चय से नहीं है"। यह तो ठीक है कि ब्रह्म से अन्य कोई सुख देने वाला नहीं। पर प्रश्न होता है कि यदि ब्रह्म के सिवा और कोई है ही नहीं तो वह सुख देता किसको है? सुख का पात्र कौन है? परमात्मा को सुख के देने वाला कहना सार्थक तब ही हो सकता है यदि जीव को ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला सुख का अभिलाषी, सुख का पात्र मान लिया जाये। वरना अद्वैतवादी बतलायें कि वह सुख किसको देता है?

ऋग्वेद १०। ८२। ७ और यजु० १७। ३१ में लिखा हुआ है:—

**न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यत् युष्माकम् अन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥**

अर्थात्—हे मनुष्यो ! (न तं विदाथ) तुम उसे नहीं जानते जिसने सारे संसार को उत्पन्न किया है (अन्यत्) वह तुम से भिन्न है परन्तु (युष्माकम् अन्तरं बभूव) वह तुम्हारे अन्दर ही विद्यमान है, वह तो तुम्हारी आत्मा की भी आत्मा है इससे अधिक निकटतम वस्तु तो हमसे और कोई है ही नहीं। वह हमारी आत्मा में व्यापक है :—

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद।"

शतपथ १४। ५। ३०॥

जो जीवात्मा में रहने वाला जीवात्मा की आत्मा है पर जीवात्मा उसे नहीं जानता क्योंकि अज्ञानवश कुछ मनुष्य तो भोग-विलास में डूबे रहते हैं, कुछ केवल लच्छेदार भाषण देने के व्यसन में फसे हुए हैं, परन्तु शुभकर्मों से हीन हैं। कुछ व्यर्थ में बकवास करते रहते हैं और अभिमान में डूबे हुए हैं, कुछ ईश्वर को बाह्य वस्तुओं में खोजते हैं और कुछ जीव और ब्रह्म को एक समझते हैं। "अहं ब्रह्मास्मि" कहकर अपने आपको ब्रह्म समझते हैं। इस मन्त्र में वेद कहता है कि परमात्मा अन्यत्=जीवात्मा से भिन्न है और उसके अन्दर ही विद्यमान है इसलिये जीव उसको अपनी अन्तरात्मा समझकर अपने अन्दर की तरफ लौटे क्योंकि वह अपने अन्दर ही प्राप्त होता है बाहर नहीं। इस मन्त्र में जीव ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट है। अपने आपको जीव समझकर निरभिमान होकर बहुत नम्रतापूर्वक उपासक बनकर उस उपास्यदेव के चरणों में बैठकर उसके आनन्द को प्राप्त करें। अहंकारवश होकर हिरण्यकशिपु की तरह अपने आपको ब्रह्म समझकर परमात्मा

का निरादर नहीं करना चाहिये, वरना हमारी भी हिरण्यकशिपु की तरह दुर्दशा होगी।

अथर्ववेद ११ । ४ । १ में लिखा है:—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे । यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात्—(प्राणाय नमः) प्राणप्रिय देव के लिये नमस्कार (इदं सर्वं यस्य वशे) यह सब जिसके वश में है, (यः भूतः सर्वस्य ईश्वरः) जो सबका स्वामी है (यस्मिन् सर्वं प्रति-स्थितं) जिसमें सब समाया हुआ है या सबको जिसका आश्रय है।

प्रश्न होता है यह नमस्कार कौन और किसको कर रहा है? यह अल्प चैतन्य जीवात्मा अपने से महान्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, आनन्दस्वरूप परमात्मा को नमस्कार कर रहा है। दूसरा प्रश्न यह होता है—यह सब क्या हैं जो उसके वश में हैं, जिनका वह ईश्वर (स्वामी) है जिसका उनको आश्रय है? यह सब जड़ प्रकृति के बने हुए संसार के पदार्थ और तमाम जीव हैं। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त उससे भिन्न और कुछ न होता तो यह मन्त्र निरर्थक हो जाता।

यजुर्वेद ३६ । २२ में लिखा है:—

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु । शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥

प्रश्न होता है यह कौन हैं और किससे प्रार्थना कर रहे हैं कि हम प्रजाओं का कल्याण कर दो और हमें और तमाम पशुओं को अभय कर दो? यह चैतन्य भयभीत जीव ही अपने से महानिर्भय परमात्मा से निर्भीकता और अपने कल्याण के लिये प्राथना कर रहे हैं। यदि ब्रह्म से भिन्न जीवों कौन माना जाये तो यह मंत्र भी निरर्थक हो जायेगा।

ऋग्वेद ९ । ११३ । ७ में लिखा है:—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

अर्थात्—(यत्र अजस्रं ज्योतिः) जहां अविनश्वर ज्योति है, (यस्मिन् लोके स्वः हितम्) जिस लोक में आनन्द निहित है (रखा हुआ है) (पवमान) हे पवित्रतम सोम (मां) मुझे (तस्मिन् अमृते लोके) उस अमर अक्षय लोक में (धेहि) स्थापित कर दे। (इन्दो) हे सोम आनन्द के भण्डार तुम मुझमें (जीवात्मा में) (परिस्रव) परिस्रुत होवो (टपक टपक कर आओ)। इस मन्त्र में जीवात्मा परमात्मा से प्रार्थना कर रहा है कि मुझे प्रकाश से और आनन्द से भरपूर अमृत के उस अक्षीण लोक को प्राप्त करा दो जहां मृत्यु का कभी प्रवेश नहीं, जहां क्षय की कोई आशंका नहीं। हे सोम तुम्हीं मुझे वहां पहुंचा सकते हो।

पूज्य स्वामी जी! जब परमात्मा की कृपा से जीव अमृत के उस अविनश्वर लोक में पहुंच गया तो क्या फिर उसका नाश हो सकता है? इस मन्त्र की मौजूदगी में आपका यह कहना कि अन्तः करण के नाश होने के साथ जीव का भी नाश हो जाता है, गलत हो जाता है। जीव नित्य है उसका कभी नाश नहीं होता। विदेह मोक्ष को प्राप्त करके जीव उस आनन्द से भरपूर अक्षय ब्रह्मलोक में पहुंचकर ब्रह्मानन्द को भोगता है जैसा कि वेदांत दर्शन ४। ४। २१ में लिखा है। जब नित्य ब्रह्म के साथ नित्य जीव भी रहता है तो फिर अद्वैत वाद कहां रहा? इस पर विचार करें।

ऋग्वेद ८। ४४। २३ में लिखा है—

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

अर्थात्--(अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप (यत् अहं त्वं स्याम) जब मैं तू हो जाऊं (वा घ) या (त्वं अहं स्याः) तू मैं हो जाय तो (ते इह आशिषः) इस संसार में ही, इस जीवन-जन्म में ही तेरी सब आशिषें, सब आशीर्वाद, मेरे कल्याण की तुम्हारी सब कामनाएं (सत्याः स्यु) सत्य हो जायें, सफल हो जायें। "हे प्रभु! वह दिन कब आयेगा, जब कि मैं तेरे ध्यान में मग्न होकर अपने आपको खो दूंगा और दूसरी तरफ तुम अपने परम प्यारे पुत्र को अपनी गोद में आश्रय दे दोगे जब कि मैं (जीवात्मा) अपनी परम आत्मा को पा जाऊंगा, दूसरे शब्दों में तुम परमात्मा अपने एक चिरवियुक्त पुत्र जीवात्मा को फिर अंगीकार कर लोगे तो इस मङ्गल-मिलन से सचमुच मैं तू हो जाऊंगा और तू मैं हो जायेगा। उस मंगल-मिलन में, मेरे कल्याण के लिये आपके सब दिये हुए आशीर्वाद, सत्य (सफल) हो जायेंगे। क्योंकि यह मंगल-मिलन (आत्म-प्राप्ति) ही मेरा सबसे बड़ा कल्याण है।" पूज्य स्वामी जी! जीव की सत्ता यदि ब्रह्म से भिन्न न होती तो वह परमात्मा से यूं मुखातिब न होता कि "मैं तू हो जाऊं और तू मैं हो जाये।" जीवात्मा के यह शब्द परमात्मा के प्रति उसकी भक्ति और प्रेम की भावना को प्रकट करते हैं। भक्ति और प्रेम की पराकाष्ठा (चरम सीमा) जीव का ब्रह्म से मंगल-मिलन ही है जिसमें प्रेमी जीवात्मा अपने प्रियतम परमात्मा के प्रेम में इतना लवलीन हो जाता है कि वह अपनी सत्ता को कायम रखते हुए भी उससे वेसुधसा रहता है और ध्येय (ब्रह्म) के सिवा कुछ भी उसकी स्मृति, ध्यान या अनुभव का विषय नहीं रह जाता।

बेखुदी छा जाय ऐसी, दिल से मिट जाये खुदी।
उनके मिलने का तरीका अपने खो जाने में है॥

याद में उनकी ऐसे महव हुए।
अपनी सुध बुध न रही कुछ बाकी ॥

इसी अवस्था को प्राप्त करके वह जीवनमुक्त हो जाता है और शरीर के छूटने पर विदेह मोक्ष को प्राप्त होता है। इस मोक्ष अवस्था में वह ब्रह्मानन्द को भोगता है। यही जीव का सबसे बड़ा कल्याण है जो कि उसकी भक्तिमय प्रार्थनाओं और परमात्मा की आशिषों (आशीर्वादों) का फल है।

"मैं तू हो जाऊं, तू मैं हो जाये" इसमें जीव (प्रेमी) के दिल में परमात्मा प्रियतम से मिलने की सच्ची भावना है। यह मिलाप होताहै योगाभ्यास से। योग के अर्थ ही हैं मिलाप। यही जीव का अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त करके जीव का नाश होना कहीं नहीं लिखा हुआ है। अपितु इस मिलाप की अवस्था में (मोक्षावस्था में) जीव की सत्ता ब्रह्म से भिन्न बनी रहती है और ब्रह्मानन्द को भोगता रहता है।

यजुर्वेद १९। ९ में लिखा है: —

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्य मसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्यु ं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥

पूज्य स्वामी जी! यह जो तेज, पराक्रम, बल, आत्मतेज (ओज), मन्यु और सहन शक्ति की भिक्षा मांग रहा है क्या इसको आप ब्रह्म कहेंगे? ब्रह्म तो इन चीजों का दाता है। तो फिर भिखारी कौन है? भिखारी है ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला चैतन्य जीवात्मा। प्रार्थी और जिसके आगे प्रार्थना की जाती है दोनों भिन्न-भिन्न सत्ता वाले होते हैं। यदि ब्रह्म के सिवा कोई और चैतन्य सत्ता वाले न होते तो प्रार्थी शब्द ही न होता इसीलिये ब्रह्म से भिन्न

सत्ता वाला (प्रार्थी) जीवात्मा को मानना पड़ेगा।

यजुर्वेद ४० । २ में लिखा है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत॑समाः ॥"

अर्थात्—तू इस संसार में कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर॥ प्रश्न होता है यह आदेश देने वाला कौन है और किसको आदेश दिया गया है? यदि ब्रह्म के सिवा और कोई चेतन है ही नहीं तो फिर यह आदेश किस के लिये हैं? यदि एक पाठशाला में एक भी विद्यार्थी न हो और अध्यापक यह आदेश दे रहा हो कि जो विद्यार्थी अपना पाठ याद करके नहीं आयेगा उसको सख्त दंड दिया जायेगा, तो आप उस अध्यापक को उन्मत्त (पागल) कहेंगे। क्योंकि विद्यार्थी तो हैं नहीं और वह आदेश दे रहा है। हमारे अद्वैत-वादी भाई भी ब्रह्म को उन्मत्त बना रहे हैं क्योंकि ब्रह्म के सिवा कोई और चेतन आदेश लेने वाला तो है नहीं पर वह पागलों की तरह आदेश दे रहा है कि तुम संसार में कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। यदि अद्वैतवादी भाई वेद शास्त्रों के कथनानुसार जीव की सत्ता ब्रह्म से भिन्न मान लेते तो आज ब्रह्म को उन्मत्त (पागल) कहना न पड़ता। इनको अपने मन्तव्यों पर विचार करना चाहिये। वह पूर्ण प्रभु की पूर्ण सृष्टि को झूठा कहकर उसका निरादर कर रहे हैं, उसको पागल भी बना रहे हैं, ब्रह्म की बराबरी भी कर रहे हैं यह कहकर कि सृष्टि के रचयिता हम हैं, हम ही तमाम ब्रह्मांड के मालिक हैं और ब्रह्म को तमाम पाप कर्मों का कर्त्ता मान रहे हैं क्योंकि जब ब्रह्म के सिवा और कोई नहीं तो फिर पापी ब्रह्म ही हुआ।

अथर्ववेद १९ । १५ । ४ में लिखा है:—

उरूं नो लोकं अनुनेषि विद्वान्, स्वर्वत् ज्योतिर-

भयं स्वस्ति । ऋष्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू, उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥

अर्थात्—हे इन्द्र (त्वं विद्वान्) तू सर्वज्ञ (नः उरूं लोकं अनुनेषि) हमें उस महान् विस्तृत लोक में पहुंचा देता है जहां (स्वर्वत्) आनन्द (ज्योतिः) प्रकाश (अभयं) अभय और(स्वस्ति) कल्याण ही है । हे परमेश्वर !(ते स्थविरस्य बाहू) तुझ महान् देव के बाहू (ऋष्वा) सब विघ्न-बाधाओं के नाश करने वाले हैं (बृहन्ता शरणा) हम उस तुम्हारी (बाहुओं की) अपार शरण में (उपस्थेयाम) बैठ जायें । इस मन्त्र में यह स्पष्ट मालूम होता है कि जो जीव ब्रह्म की शरण में बैठ जाते हैं ब्रह्म उनको उस महान् विस्तृत ब्रह्म लोक में पहुँचा देता है जहां प्रकाश, अभय, कल्याण और आनन्द ही आनन्द है । जीवों का नाश नहीं हो जाता (जैसा कि आपका विचार है) वह तो वहां पहुँच जाते हैं आनन्द को भोगने के लिये, जैसा कि वेदांत दर्शन ४ । ४ । २१ में लिखा है ।

ऋग्वेद ८ । ६२ । ३२ में लिखा है :—

त्वयेदिन्द्र युजावयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः । त्वमस्माकं तव स्मसि ॥

अर्थात्-- (इन्द्र) हे परमात्मा ! (त्वया इत्) तेरे ही (युजा) साथ से, जुड़े रहने से (वयं) हम (स्पृधः) स्पर्धा करने वालों का प्रतिद्वन्द्वियों का (प्रतिब्रुवीमहि) प्रतिकार करें, मुकाबिला करें, जीतें । (त्वं) तू (अस्माकं) हमारा है और हम (तव) तेरे (स्मसि) हैं ।

इस मन्त्र में जीवात्मा अपने प्रतिद्वन्द्वियों और पापरूपी शत्रु का मुकाबिला करने के लिये अपने से अतिमहान् परम ब्रह्म का आंचल पकड़ कर कहते हैं हे सर्वशक्तिमान् परमात्मा

हमने तेरा आँचल पकड़ कर अपने आपको तेरे साथ जोड़ लिया है क्योंकि बिना तेरे साथ जुड़ने के, बिना तेरी सहायता के हम अपने पापरूपी महान् शत्रु (वृत्र) का मुकाबिला नहीं कर सकते। कृपा करके अब हमको अपने से अलग नहीं करना, हमारा हाथ छोड़ नहीं देना। ओह, तुम हमसे जुदा हो ही कैसे सकते हो, तुम हमको छोड़ ही कैसे सकते हो। तुम तो हमारे हो (हमारी अन्तरात्मा हो) और हम तुम्हारे हैं। तुम हमारे पिता हो, माता हो, स्वामी हो, गुरु हो, बन्धु हो, सखा हो, पति हो, सब कुछ हो। तुम हमारे क्या नहीं हो? इसलिये हम तो कहते हैं कि तुम हमारे हो, बस हमारे हो और हम तुम्हारे हैं, तुम्हारे पुत्र हैं, दुलारे हैं, सेवक हैं, सखा है, शिष्य हैं, प्यारे हैं, जो भी कुछ हैं तुम्हारे हैं, हे प्रभु! तुम्हारे ही हैं। सचमुच तुम ही हमारे हो और हम तुम्हारे ही हैं। तो हमें तुमसे कौन जुदा कर सकता है!

इस मन्त्र में जीवात्मा अपने आपको परमात्मा से अति-निकट और अटूट सम्बन्ध से बन्धा हुआ अथवा जुड़ा हुआ तो मानता है मगर अपने आपको ब्रह्म नहीं कहता अपितु परमात्मा को अपने से अतिमहान् समझकर अपने प्रतिद्वन्द्वियों से मुकाबिला करने के लिये उसकी सहायता मांग रहा है।

न्याय दर्शन १। १० में लिखा है:—

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

आत्मा के यह ६ लिङ्ग हैं। प्रश्न होता है क्या आनन्द-स्वरूप, मुक्त स्वरूप, निर्वैर, दयालु परमात्मा के लक्षण सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष हो सकते हैं? कभी नहीं। फिर वह कौन है? वह है जीवात्मा।

यजुर्वेद २३। ३ में लिखा है:—

"यः महित्वैकऽइत राजा जगतो बभूव।"

अर्थात् परमात्मा जो अपनी अनन्त महिमा से इस जगत् का एक ही विराजमान राजा है।" यहां परमात्मा को राजा कहा है। परन्तु विना प्रजा और खजाना के वह राजा नहीं कहला सकता। वेद शास्त्रों के अनुसार तमाम जीव उसकी प्रजा हैं और प्रकृति उसका खजाना है। वह अनादि राजा है इसलिये उसका खजाना (प्रकृति) और प्रजा (जीवात्मा) भी अनादि होने चाहियें वरना वह अनादि राजा नहीं कहला सकता।

इस राजा के दो प्रकार के नियम हैं—एक भौतिक (जड़ प्रकृति के लिये) और दूसरे आध्यात्मिक (जीवों के लिये)। यदि ब्रह्म के सिवा प्रकृति और जीव न होते तो यह नियम निरर्थक हो जाते।

Phenamena of Death-मृत्यु किस तरह होती है। कृष्ण-महाराज के उपदेश के अनुसार जब जीव शरीर को छोड़ देता है तो मृत्यु हो जाती है। छा० उप० ६। ८। ३ में भी यही लिखा है:—

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ शुष्यति स वा एषोऽपि म्रियते ॥

अर्थात् —"जब जीव शरीर के एक हिस्से से निकल जाता है तो वह सूख जाता है और जब सारे शरीर को छोड़ जाता है तो शरीर की मृत्यु हो जाती है।" अब यदि जीव ब्रह्म ही है जैसा कि अद्वैतवादियों का ख्याल है तो फिर कृष्ण महा-राज और छा० उप० के अनुसार मौत हो ही नहीं सकती क्योंकि ब्रह्म तो मृतक शरीर में भी होता है। इसलिये जीव को ब्रह्म से भिन्न शरीर में मानना ही पड़ेगा जो मृत्यु के समय शरीर को छोड़ जाता है। आपने अपने व्याख्यान १९-१०-६८ में कहा था कि आत्मा हमारे शरीर से निकल नहीं जाती।

यह ठीक है आत्मा (परमात्मा) तो मृतक शरीर में भी रहता है पर (जीवात्मा) तो निकल जाता है। चोला बदलता है। कहते हैं स्वामी शंकराचार्य अपने शरीर से जीव को निकाल सकते थे। यदि यह ठीक है तो फिर जीव के ब्रह्म से भिन्न होने में क्या शंका हो सकती है ?

यदि एक शरीर को छोड़कर दूसरी योनियों के शरीरों को जीव अपने कर्मों के अनुसार धारण न करता रहे तो यह योनिचक्र चल ही कैसे सकता है ?

ब्रह्मप्राप्ति का दूसरा नाम ही वेदान्त है।

यदि ब्रह्म के सिवा और कुछ हैं ही नहीं तो फिर ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये यत्न करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वेदान्त के ज्ञान का होना सार्थक तभी हो सकता है जब कोई ब्रह्म को प्राप्त करने वाला हो। इसलिये ब्रह्म को प्राप्त करने वाला ब्रह्म से भिन्न जीव को मानना ही पड़ता है। वरना बताया जाये कि वेद का ज्ञान किसके लिये है ?

जीव को अल्पज्ञ और ब्रह्म को सर्वज्ञ कहा गया है।

थोड़े ज्ञान वाले को अल्पज्ञ और पूर्ण ज्ञान वाले को सर्वज्ञ कहते हैं। ज्ञान हमेशा चेतन को होता है। इसलिये दो चेतन हुए एक थोड़े ज्ञान वाला और एक पूर्ण ज्ञान वाला। यदि ब्रह्म से भिन्न और कोई चेतन नहीं है तो फिर अल्पज्ञ कौन ? सर्वज्ञ ब्रह्म तो अल्पज्ञ हो ही नहीं सकता। इसलिये अल्पज्ञ जीव की ब्रह्म से भिन्न सत्ता माननी ही पड़ेगी।

बन्धन से दुःख-सुख का अनुभव जड़ को नहीं होता, चेतन को होता है।

तो फिर यह जन्म मरण के बन्धन के चक्र में आया हुआ, दुःख सुख को भोगने वाला कौन चेतन है ? ब्रह्म तो हो ही

नहीं सकता। तो फिर जीव को ब्रह्म से भिन्न मानना ही पड़ेगा। वरना बताया जाये कि जन्ममरण के चक्र में कौन आता है ?

यदि हमारा आत्मा ब्रह्म ही है तो वह अपने आपको जीव क्यों मानता है ?

उत्तर मिलता है अज्ञान (अविद्या) के कारण। प्रश्न होता है:—यह अज्ञान किसको होता है ? यदि आपके कथनानुसार यह सब कुछ ब्रह्म ही तो है। तो मानना पड़ेगा कि यह अज्ञान ब्रह्म ही को होता है। तो जो ब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं, उसके लिये ऐसा कहना क्या अपराध नहीं ? प्राचीन ऋषियों के अर्थ को न समझकर ब्रह्म में अविद्या का प्रवेश कर दिया। किसी ने यह न सोचा कि कहीं सूर्य में भी अन्धकार हो सकता है ? यदि सूर्य में अन्धकार हो तो उसे दूर कौन करे ? यदि ज्ञान-स्वरूप सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या अर्थात् उल्टा ज्ञान आजाये तो उसको नष्ट करने वाला कहां से आयेगा ? सत्य तो यह है कि न तो अविद्या ब्रह्म में आ सकती है न प्रकृति में, केवल अल्पज्ञ जीवात्मा का स्थान है।

आपने अपने १६-१०-६८ के व्याख्यान में कहा था:—

"जगत् में जो भी आनन्द मालूम होता है वह भी परमात्मा का है।"

प्रश्न होता है कि परमात्मा का यह आनन्द किस चेतन को मालूम होता है ? दूसरे शब्दों में यह आनन्द किस को अनुभव होता है, इसका अनुभवी कौन है ? वह है परमात्मा से भिन्न आनन्द का भिखारी चेतन जीवात्मा। स्वामी जी ! जीवात्मा को ब्रह्म से भिन्न मानना ही पड़ता है।

उपासक और उपास्यदेव—The relation between God and saul is admitted to be that of Devotee & object of devotion ie upasak & upasya deva. How can he himself be an upasak&upasya dev,How can he himself be Bhagat & Bhagwan, ध्याता और ध्येय, साधक and साध्य, ज्ञाता and ज्ञेय? So one has to believe in the separate existence of God & soul. That is why swami shivanand (of Rikhi khesh) has written in his book essence of Vedanta;-

"Meditation starts with a belief in the reality of a dual existence" for without such a faith in duality, meditation lapses into a state of faculty of thinking and contemplation becomes impossibe."

उपासना विना उपासक और उपास्यदेव के हो ही नहीं सकती। ब्रह्म स्वयं ही किस तरह भक्त और भगवान्, उपासक और उपास्यदेव, ध्याता और ध्येय, साधक और साध्य, ज्ञाता और ज्ञेय, आनन्द का भिखारी और आनन्द का भण्डार, मुमुक्ष स्वरूप हो सकता है। इसीलिये स्वामी शिवानन्द जी ने अपनी पुस्तक "Essence of Vedanta" में स्पष्ट लिखा है कि उपासना के लिए दो भिन्न-भिन्न सत्ताओं को मानना ही पड़ता है वरना साधना, उपासना, ध्यान, भक्ति हो ही नहीं २२
सकती।

ऐसा मान कर भी अद्वैतवादी कह देते हैं कि व्यवहार में हम ऐसा मानते हैं क्योंकि दो मानने के विना उपासना हो ही नहीं सकती परन्तु परमार्थ में जीव और ब्रह्म की सत्ता एक ही है। इस पर प्रश्न हो जाता है कि क्या हमारा उपासना का व्यवहार झूठा है? तत्त्वज्ञानी मुमुक्षु का व्यवहार झूठा नहीं

हो सकता। क्योंकि तत्त्व ज्ञान के अर्थ हैं जो चीज जैसी हो उसको वैसा ही मानना। जब आपके मन्तव्य के अनुसार जीव और ब्रह्म की सत्ता एक है तो फिर तत्त्वज्ञानी उपासक व्यवहार के लिये जीव और ब्रह्म को भिन्न-भिन्न क्यों मानेगा और ब्रह्म प्राप्ति के लिये झूठा व्यवहार क्यों करेगा? यदि व्यवहार झूठा है तो उपासना भी झूठी होगी। जब उपासना झूठी तो ब्रह्म प्राप्ति का फल भी झूठा होगा। तो अद्वैतवादी जो व्यावहारिक उपासना करते हैं वह सब झूठ है। इस झूठी उपासना से उनको ब्रह्मप्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यदि उनका लक्ष्य है ब्रह्मप्राप्ति तो उनको उपासना का व्यवहार सच्चा करना होगा याने जीव और ब्रह्म की सत्ता को अनादि काल से अनन्त काल तक भिन्न-भिन्न ही मानकर उपासना करनी होगी। वेद, उपनिषद्, गीता, वेदान्त दर्शन और ब्रह्म सूत्र सब जीव और ब्रह्म की भिन्न-भिन्न सत्ता को मानते हैं और युक्ति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। "अहं ब्रह्मास्मि" यह वचन वेद का है जिसमें परमात्मा ने अपने आपको ब्रह्म कहा है "अह ओ३म् खम्, ब्रह्म" (यजु० ४० । १७) कहीं भी जीव को ब्रह्म नहीं कहा गया। यह ब्रह्म है नहीं, ब्रह्म हो जाता है परमात्मा की उपासना करने से। जैसा कि लिखा है 'एतत् ततो भवति" (तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथमा वल्ली षष्ठोऽनुवाकः) अर्थात् (एतत्) जीव (ततो) वह ब्रह्म (भवति) हो जाता है। क्रिया स्पष्ट कर रही है कि जीव पहले ब्रह्म नहीं था. अब हुआ है। प्रश्न होता है कि वह किस तरह ब्रह्म बन जाता है? इसका उत्तर मुण्डक उपनिषद ३।२।९ में दिया हुआ है। लिखा है "यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।"

अर्थात्—जो "परम ब्रह्म" को पूरी तरह जान लेता है

"ब्रह्म" ही हो जाता है। प्रश्न होता है वह कौन ब्रह्म से भिन्न चेतन है जो अज्ञान के कारण परम ब्रह्म को नहीं जानता और जब ज्ञान से उसको जान लेता है तो ब्रह्म ही हो जाता है ? यह बात तो स्पष्ट ही है कि परम ब्रह्म को जानने से पहले वह ब्रह्म नहीं कहला सकता। वह हो जाता है (जैसा कि 'भवति' क्रिया से स्पष्ट है) पर है नहीं। जैसाकि जब हम कहते हैं 'पानी मीठा हो जाता है' इसका मतलब स्पष्ट है कि पानी मीठा है नहीं पर शक्कर से मीठा हो जाता है। परन्तु हम यह कभी नहीं कहते कि शक्कर मीठी हो जाती है क्योंकि यह तो स्व-भाव से है ही मीठी। इसी तरह हम कभी नहीं कहेंगे कि ब्रह्म ब्रह्म हो जाता है ब्रह्म को जानने से क्योंकि ब्रह्म कभी ब्रह्म हो नहीं जाता वह तो जब से है तब से ही स्वभाव से ब्रह्म है।

अनादि काल से अनादि ब्रह्म है। परन्तु अल्पज्ञ, आनन्द का भिखारी सच्चित् जीव जब वेद ज्ञान द्वारा ब्रह्म को जान कर उसके गुणों को धारण करके योगाभ्यास से समाधिस्थ होकर परमात्मा की उपासना करता है तो उपास्यदेव परमात्मा उस पर अपने आनन्द की वर्षा करता है और उसको अपने रंग में रंग देता है जिससे उसका पद और मूल्य बढ़ जाता है और वह भी ब्रह्म ही हो जाता है। जैसे अग्नि में पड़ा हुआ लोहा अग्नि का रूप धारण करके तद्रूप हो जाता है। वह लाल और गरम हो जाता है उस वक्त वह भी अपने आपको अग्नि कह सकता है क्योंकि वह अग्नि की तरह लाल होता है और चीजों को जला भी सकता है परन्तु उस वक्त भी उसकी सत्ता अग्नि से भिन्न ही होती है। वह अग्नि में पड़ा होता है और अग्नि उसमें होती है। उस वक्त लोहा कहता है "कैसा अनोखा यह खेल देखा कि आग मुझमें मैं आग में हूं।" इतना निकट सम्बन्ध और गुणों की एकता होते हुए भी लोहे की

सत्ता अग्नि से भिन्न ही रहती है। क्योंकि लोहा आग की तरह तो हो सकता है मगर आग ही नहीं हो सकता। क्योंकि भाव का अभाव और अभाव का भाव नहीं हो सकता। इसी तरह जीवात्मा ब्रह्म अग्नि में पड़कर तद्रूप तो हो जाता है। सच्चित् से सच्चिदानन्द ब्रह्म तो हो जाता है परन्तु उस मोक्षावस्था में भी इसकी सत्ता ब्रह्म से भिन्न ही होती है। उस वक्त स्वामी रामतीर्थ की तरह अनुभव करता है कि वह ओं में है और ओं उसमें है और कहता है "कैसा अनोखा यह खेल देखा कि ओ३म् मुझमें मैं ओ३म् में हूँ।" परन्तु उस वक्त भी उसकी सत्ता ब्रह्म से भिन्न ही होती है क्योंकि वह ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करके सच्चिदानन्द ब्रह्म तो हो जाता है परन्तु सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, असीम (लामहदूद) सृष्टि का रचयिता ब्रह्म न पहले था, न अब है और न हो सकता है। याने पूरी समानता प्राप्त नहीं कर सकता। यह वेदांत दर्शन का सिद्धांत है कि जीव ब्रह्म हो जाने पर भी जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकता। जैसा कि ४-४-१७ वेदांत दर्शन में कहा है—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणाद् सन्निहितत्वाच्च।

अर्थात्—जगत् के उत्पत्ति आदि कार्य को छोड़कर मुक्तावस्था में अपने कल्याण का ऐश्वर्य होता है। यहां शंकराचार्य को भी यही अर्थ करना पड़ा "जगदुत्पत्त्यादि व्यापारं वर्जयित्वा" (शाङ्कर भाष्यम्)। अतः जीव कभी पूरा ब्रह्म हो ही नहीं सकता। इसीलिये ऊपर लिखित मुण्ड० उपनिषद् के ३-२-९ वाक्य में लिखा है कि जो 'परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" याने जो परम ब्रह्म को जान लेता है ब्रह्म हो जाता है। परमात्मा को परमब्रह्म लिखा है और जीव को "ब्रह्म हो जाता है" ऐसा लिखा है। उसको परमब्रह्म नहीं लिखा क्योंकि वह परमब्रह्म की पूरी समानता को प्राप्त कर ही नहीं

सकता। यह ब्रह्म होता है इसलिये सादि ब्रह्म हुआ और वह अनादि ब्रह्म है। यह सादि और अनादि ब्रह्म का भेद तो हमेशा बना रहेगा। ब्रह्म के अर्थ हैं बड़ा। जीव परमात्मा की उपासना से बाकी जीवों की अपेक्षा (मुकाबले में) तो ब्रह्म याने बड़ा होजाता है पर परमात्मा के सदृश सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् सृष्टि का रचयिता ब्रह्म नहीं हो सकता। जैसे इस युग में महात्मा गांधी और जीवों की अपेक्षा ब्रह्म याने बड़े हो गये थे परन्तु उनको सृष्टि के रचयिता परमात्मा के समान ब्रह्म नहीं कह सकते।

अब शंकराचार्य के महावाक्य "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।" पर विचार करते हैं। इस वाक्य के अर्थों को गलत समझ कर गलत प्रचार किया गया है। इसमें प्रकृति और जीव को मिथ्या नहीं कहा गया अपितु प्रकृति से बने जगत् और उसके पदार्थों को झूठा कहा है। जगत् को मिथ्या कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि जगत् स्वप्न की तरह या मृगतृष्णा के जल की तरह झूठा है वरन इसका अभिप्राय यह है कि जगत् के प्राकृतिक पदार्थ ब्रह्म प्राप्ति के झूठे साधन हैं, सत्य साधन नहीं। जैसे सूर्य को देखने के लिये जगत् के तमाम लैंप (दीपक) और बिजली के बड़े बड़े बल्ब आदि झूठे साधन हैं इनसे सूर्य को नहीं देखा जा सकता। सूर्य को देखने का केवल एक ही असली (सत्य) साधन है सूर्य का अपना ही प्रकाश याने सूर्य को देखने का सूर्य ही सत्य साधन है, बाकी साधन सब झूठे हैं। इसी तरह ब्रह्म प्राप्ति का सत्य साधन है ब्रह्म का ही दिया हुआ ज्ञान-प्रकाश। "ब्रह्म सत्यं" का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म प्राप्ति का सत्य साधन स्वयं ब्रह्म ही है बाकी दुनिया के सब पदार्थ झूठे साधन हैं। जगत् के प्राकृतिक पदार्थ प्रकृति से बने हुए शरीर रूपी रथ को स्वस्थ रखने के

सत्य साधन तो हैं जीवन यात्रा के लिये, पर जब तक जीवन यात्रा का पथ ब्रह्म के ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता तब तक जीव को अपने लक्ष्य (ब्रह्म) की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये जगत् के तमाम पदार्थ मिथ्या साधन हैं। ब्रह्म प्राप्ति के लिये ब्रह्म ही सत्य साधन है। अब प्रश्न होता है कि यदि ब्रह्म ही सत्य साधन है तो वह है कहां ? इसका उत्तर स्वामी शंकराचार्य ने दिया है :—

जीवो ब्रह्मैव नापरः ।

अर्थात् जीव और ब्रह्म एक दूसरे से अलग याने दूर नहीं हैं। भेद दूरी या फासला का भी होता है। स्वामी जी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि वह एक दूसरे से दूर नहीं हैं उनमें दूरी का भेद (फरक) नहीं है। वह परमात्मा जीव के अति निकट है वह जीव की अन्तरात्मा है (शतपथ ब्राह्मण)। यदि उनका अभिभाय जीव और ब्रह्म की सत्ता को अभेद बताने का होता तो वह स्पष्ट लिख सकते थे कि जीव और ब्रह्म में सत्ता का भेद नहीं हैं। यहां जो उनके वाक्य का विषय है उसमें दूरी का अभेद बताना ही ठीक था। उनके वाक्य का विषय यही मालूम होता है जो मैंने लिख दिया है। जो अर्थ अद्वैतवादी करते हैं वह तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि यदि ब्रह्म को सत्य कहेंगे तो जगत् को भी सत्य कहना पड़ेगा क्योंकि उनका मन्तव्य है सर्वं खल्विदं ब्रह्म" सब कुछ ब्रह्म ही है। जब सब कुछ ब्रह्म है तो जगत् भी ब्रह्म हुआ। और ब्रह्म सत्य है तो जगत् मिथ्या कैसे हो गया ? जगत् को ब्रह्म मान कर फिर उसको मिथ्या नहीं कह सकते। यदि जगत् को मिथ्या कहोगे तो ब्रह्म को भी मिथ्या कहना पड़ेगा। इसलिये अद्वैतवादियों का अर्थ उनके सिद्धांत के विरुद्ध जाता है। इसलिये जो अर्थ मैंने किया है वही युक्ति-युक्त मालूम होता है।

स्वामी जी ने इस वाक्य में बिलकुल यह नहीं कहा कि जीव और ब्रह्म एक है। इस वाक्य का भावार्थ यह है कि जीव को सर्व सांसारिक पदार्थों से चित्त को हटाकर उस सत्य परम ध्येय ब्रह्म में चित्त लगाना चाहिये। वह ब्रह्म जीव से परे नहीं (दोनों में दूरी का भेद नहीं)।

अब जीव और ब्रह्म में भेद लिखते हैं जो कि वेद शास्त्रों और युक्तियों से सिद्ध होता है :—

जीव	ब्रह्म
१—इसको जीवात्मा कहते हैं।	इसको परम-आत्मा बड़ी आत्मा कहते हैं।
२— जीव अल्पज्ञ चेतन है।	ब्रह्म सर्वज्ञ चेतन है।
३-इसका ज्ञान नैमित्तक होता है।	ब्रह्म का ज्ञान स्वाभाविक है।
४— यह अल्प शक्ति वाला है।	ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है।
५—जीव एकदेशी पिंड याने शरीर में व्यापक है।	ब्रह्म सर्व देशी सर्व ब्रह्माण्ड में व्यापक है।
६—जीव अपनी इच्छा से कर्म करता है।	ब्रह्म के कर्म स्वाभाविक हैं। स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया च।
७—जीव स्वतन्त्रता से कर्म करता है।।	जीव को कर्मों का फल देने के लिये कर्माध्यक्ष है
८-जन्म-मरणके बंधनमें आता है।	यह बंधन रहित मुक्त स्वरूप है।
९—यह सत्-चित् सच्चित् है।	यह सत्, चित्, आनन्द सच्चिदानन्द हैं।
१०-यह आनन्द का भिखारी है। आनन्दकी खोजमें लगा रहता है।	यह आनन्द स्वरूप है। जीवों का आनन्द दाता है।
११. जीव अपने कर्मों का फल दुःख-सुख भोगता है।	ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, जीवों को उनके कर्मों का फल दुःख-सुख देता है।

१२. जीव भीतरी ज्ञान और बाह्य ज्ञान दो प्रकार के ज्ञान रखता है।	ब्रह्म में केवल भीतरी ज्ञान है क्योंकि सब कुछ ब्रह्म के भीतर है बाहर कुछ नहीं।
१३. यह सकाम कर्त्ता (फाइल-बिल-इरादा) इच्छा से करता है।	ब्रह्म निष्काम स्वाभाविक कर्त्ता (फायल-बिलखासा) है।
१४. जीव के कर्म अनियमित व सापेक्ष हैं।	ब्रह्म के सब कर्म सदैव एक से होते हैं।
१५. जीव के बनाये हुए नियम अटल नहीं। इसकी बनाई हुई घड़ियों में समय न्यून व अधिक हो सकता है।	ब्रह्म के नियम अटल हैं। सूर्य चन्द्रमा की चाल जिस नियम पर स्थिर की है सदैव उस पर बंधी हुई है।
१६. जीव में आनन्द नहीं। यह समाधि और मोक्षावस्था में ब्रह्म के आनन्द से आनन्दित होता है।	ब्रह्म आनन्द स्वरूप है वह अपने स्वाभाविक आनन्द से सदैव आनन्दित हैं।
जीव अल्प है इसलिये उसमें आनन्द नहीं।	ब्रह्म भूमा (अनन्त) है इसलिये उसमें आनन्द है।

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति।

छा० ७। २३। १॥

१७. जीव भक्त है।	ब्रह्म भगवान् है।
जीव प्रेमी है।	ब्रह्म प्रियतम है।
जीव साधक है।	ब्रह्म साध्य है।
जीव ध्याता है।	ब्रह्म ध्येय है।
जीव ज्ञाता है।	ब्रह्म ज्ञेय है।
जीव उपासक है।	ब्रह्म उपास्यदेव है।
जीव स्तोता है।	ब्रह्म स्तुत्य है।

जीव नियम्य है।	ब्रह्म नियन्ता है। (सर्वनियन्ता)
जीव पुत्र है।	ब्रह्म उसका माता पिता है।
जीव प्रजा है अनादि काल से	ब्रह्म राजा है अनादि काल से। प्रजापति है।
जीव रथी, यात्री, पथिक है।	ब्रह्म जीवकी यात्रा का लक्ष्य है और उसका पथ-प्रदर्शक है।
जीव मुमुक्षु है। (मोक्षानन्द का इच्छुक है)	ब्रह्म मोक्ष स्वरूप है। (आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्)
जीव शिष्य है।	ब्रह्म अनादि गुरु है।
जीव सृष्टि है।	ब्रह्म सृष्टि रचयिता है।
१८. जीव ब्रह्म की उपासना से ब्रह्म हो जाने पर भी सादि सच्चिदानन्द ब्रह्म हो सकता है।	ब्रह्म अनादि सच्चिदानन्द ब्रह्म है।
१९. जीव ब्रह्म हो जाने पर भी अन्य जीवों की अपेक्षा ब्रह्म याने बड़ा तो हो जाता है पर वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सृष्टि का रचयिता ब्रह्म नहीं हो सकता।	परमात्मा अनादि काल से सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्व शक्तिमान्, सृष्टि का रचयिता सच्चिदानन्द ब्रह्म है।
२०. जीव के सामर्थ्य की हद तो प्रत्यक्ष नजर आती है।	ब्रह्म के सामर्थ्य की कोई हद नहीं।
२१. जीव को आधार चाहिये। आधार अपने से बड़े का होता है।	ब्रह्म जीव का आधार है। सर्वाधार है।

कठोपनिषद् का सन्देश है:—

एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

अर्थात् जीव के लिये ओ३म् का सहारा ही सबसे बड़ा सहारा है यही सबसे परम आश्रय है। इसी के सहारे ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है।

२२. जीव शरीर की आत्मा है। (शरीर में व्यापक होने से)

ब्रह्म सर्व ब्रह्मांड की आत्मा है (सर्वव्यापक होने से)।

२३. पांच कोशों का शरीर जीव का शरीर है—अन्नमय कोश (स्थूल शरीर), प्राण-मय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश (सूक्ष्म शरीर) आनन्दमय कोश (कारण शरीर)

यह जीवात्मा ब्रह्म का शरीर है क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक होने से जीवात्मा के अन्दर भी व्यापक है याने जीवात्मा की आत्मा है इसलिये जीवात्मा को उसका शरीर कहा है "यस्यात्मा शरीरम् ।"

(शतपथ ब्रा० १४ । ५ । ३०

जीव को कर्म करने के लिये शारीरिक उपकरणों (साधनों) की आवश्यकता होती है। जैसे आंख के बिना देख नहीं सकता। हाथ के बिना कोई काम नहीं कर सकता। इसलिये परतन्त्र है।

ब्रह्म को उपकरणों की आव-श्यकता नहीं। बिना आंख के देखता है, बिना हाथों के तमाम ब्रह्मांड की रचना करता है इस लिये स्वतन्त्र है।

२४. जो पदार्थ परमात्मा बनाता है वह जीव नहीं बना सकता। सोने के जेवर बना सकता है मगर सोना नहीं

ब्रह्म जगत्के सर्वस्व प्राकृतिक पदार्थों को स्वयं ही बनाता है और सब वेदमन्त्रों की रचना उसी ने की है। सब कुछ उसी

बना सकता । जीवात्मा श्लोक बना सकता है परन्तु वेद मन्त्र जो परमात्मा के बनाये हुए हैं एक भी नहीं बना सकता ।	का बनाया हुआ हैं । जीव तो एक तिनका तक नहीं बना सकता । ऐसी अल्पशक्ति और अल्प ज्ञान वाले को अद्वैतवादी ब्रह्म कहते हैं । आश्चर्य हैं ।
२५. जीव ब्रह्म की दया का पात्र है ।	ब्रह्म स्वभाव से दयालु है और सब जीवों पर दया करता है । यदि जीव न हों तो दया किस पर करे ।
२६. जीव अविद्या से ढका हुआ चेतन है जो अपने आपको भी नहीं जानता । परमात्मा के दिये हुए ज्ञान से पहले आपको जानता है, फिर परमात्मा को ।	परमात्मा ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ शुद्ध बुद्ध चेतन हैं जो अपना ज्ञान वेद द्वारा जीवों की उन्नति के लिये देता है जिससे वह पहले अपने आपको और फिर परमात्मा को पहचान कर योगाभ्यास से उसको प्राप्त करता है ।
२७. जीव शरीर में प्रवेश करके (शरीर में व्यापक होकर आत्मा कहलाता है । (आत्मा के अर्थ हैं व्यापक)	ब्रह्म अनादि काल से सबमें व्यापक हैं । इसलिये अनादिकाल से वह आत्मा कहलाता है ।
२८. जीव एक समय में सब वस्तुओं को नहीं जानता	ब्रह्म सर्वव्यापक अन्तर्यामी होने से एक ही समय में सर्व वस्तुओं को जानता है ।
२९. मृत्यु के समय जीव शरीर को छोड़ देता हैं ।	ब्रह्म मृतक शरीर में भी रहता है ।
३०. अल्पज्ञ जीव में ज्ञान और अज्ञान दोनों मिले रहते	केवल ब्रह्म के ही कर्म ज्ञान के अनुसार होते हैं ।

हैं । यह कारण उसकी असफलता और दु:ख का हैं ।	
३१. जीव के तमाम कर्मों का न्याय होता है और उनका फल उसको अवश्य ही भोगना पड़ता हैं अपने आपको बचा नहीं सकता ।	ब्रह्म न्यायाधीश है । ठीक-ठीक कर्मों का फल देता है । जीव फल भोगने में परतन्त्र है, भोगना ही पड़ता है ।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

किये हुए कर्मों का फल जीव को अवश्य भोगना पड़ता है । क्या ऐसे जीव को जिसको पराधीन होकर अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है आप ब्रह्म कह सकते हैं ?

३२. जीव को पुरुष कहा गया है	ब्रह्म को पुरुषोत्तम या पुरुष विशेष कहा है ।

"क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

योग दर्शन १ । २४ ॥

अर्थात्—क्लेश,कर्म, कर्मफल और वासनाओं से असम्बद्ध(अपरामृष्टा) पुरुषविशेष ईश्वर कहलाता है । पुरुष याने जीवात्मा का सम्बन्ध इन क्लेश, कर्मादि से अन्त:करण के द्वारा होता है । परन्तु ईश्वर जो पुरुष विशेष हैं उनका इनसे साक्षात् या असाक्षात् किसी प्रकार से भी सम्बन्ध नहीं । जीव निमित्त विशेष से [मन, इन्द्रियों द्वारा) कर्म किया करता है । परन्तु ईश्वर को इस प्रकार के निमित्त प्रभावित नहीं कर सकते । क्योंकि उसके ज्ञान, कर्म व बल स्वाभाविक हैं ।

३३. जीव ब्रह्म के आधीन हैं।	ब्रह्म सबका शासक और स्वामी है।
३४. जीव एक समय में केवल एक ही इन्सानी या हैवानी शरीर में मौजूद हो सकता हैं। मरने के बाद उसको छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है।	परमात्मा तो एक ही समय में तमाम इन्सानी और हैवानी शरीरों में मौजूद होता हैं। वह तो मृतक शरीरों में भी मौजूद होता है।
३५. मानव जीवन में शरीर क्षेत्र है और जीव क्षेत्रज्ञ है।	प्रकृति की सृष्टि क्षेत्र है, और ब्रह्म क्षेत्रज्ञ है।
३६. जीव सेवक है।	ब्रह्म स्वामी है।
३७. जीव विधान में चलने वाला है।	ब्रह्म विधाता है
३८. जीव नर है।	ब्रह्म नारायण है।
३९. जीव संसार के हाथों में है।	संसार ब्रह्म के हाथों में हैं।
४०. जीव हर स्थान में ब्रह्म के साथ नहीं होता क्योंकि परिच्छिन्न (महदूद-सीमायुक्त) है केवल हृदय में उसके साथ है	ब्रह्म सर्वव्यापक, अपरिच्छिन्न है। इसलिये जहां भी जीव होता है वह उसके साथ होता है। उसके अन्दर भी हैं और बाहर भी।
४१. जीव अनेक हैं और प्रकृति की संगत में प्रकृति के तीन गुणों (तम, रज, सत्) के भिन्न-भिन्न प्रभाव से इनके (जीवों के) गुण, कर्म, स्वभाव में भिन्नता पाई जाती है।	ब्रह्म एक है और निर्विकार एकरस है। प्रकृति के तीनों गुणों से अतीत है। उनका प्रभाव ब्रह्म पर नहीं पड़ सकता। इसलिये उसके गुण, कर्म, स्वभाव एक-रस है।
३२. जीव का लक्ष्य है।	ब्रह्म का लक्ष्य किसी चीज

ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ।	को प्राप्त करना नहीं क्योंकि वह पूर्ण है उसको किसी चीज की भी आवश्यकता नहीं ।
४३. जीव अपूणता में पूर्ण हैं ।	ब्रह्म पूणता में पूर्ण है ।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है इससे जीव और ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट मालूम होती है । दोनों का अपना अपना अस्तित्व है ।

यदि ब्रह्म के सिवा और कोई चैतन्य सत्ता है ही नहीं और सब शरीरों में उसी एक ही सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, आनन्दस्वरूप ब्रह्म की सत्ता है तो फिर उनके ज्ञान में, कर्मों में विचार आचार और व्यवहार में भिन्नता क्यों पाई जाती है ? कोई मनुष्य बड़ा विद्वान् है तो कोई पागल है, कोई उन्नति कर रहा है, कोई अवनति, कोई ब्राह्मण के,कोई क्षत्रिय के, कोई वैश्य के, कोई शूद्र के, और कोई चण्डाल के कर्म कर रहा है, कोई शराबी है, कोई व्यभिचारी है, कोई चोर है,कोई डाकू है. कोई कातिल है, कोई राजा है,कोई रंक है, कोई पर-स्त्री भगा ले जाता है, कोई दूसरे की जमीन और दौलत पर कब्जा कर लेता है, कोई दुःख और कोई सुख भोग रहा है। यह भिन्नता ब्रह्म के विचार, आचार, व्यवहार, ज्ञान और कर्मों में नहीं हो सकती । ब्रह्म तो एकरस है। न ही यह भिन्नता भिन्न २ शरीरों के कारण हो सकती है क्योंकि शरीर जड़ है। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व अर्थात् जानने, करने और भोगने के लक्षण प्राकृतिक जड़ शरीरों में नहीं पाये जाते। फिर इस ज्ञान, कर्म और भोग की भिन्नता का कारण क्या हो सकता है ? वेद शास्त्रों के अनुसार भिन्न-भिन्न गुण, कर्म और स्वभाव वाले अल्प, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, निरानन्द, चैतन्य जीवों का भिन्न-भिन्न शरीरों में होना ही इस भिन्नता

का कारण है। इस लिये चैतन्य जीवों की सत्ता चैतन्य ब्रह्म से भिन्न माननी ही पड़ती है। यदि कहो कि इस भिन्नता का कारण चिदाभास याने चैतन्य ब्रह्म का अन्तःकरण में प्रतिबिंब है तो यह कहना ठीक नहीं बनता क्योंकि प्रतिबिंब तो शून्य होता है वह ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता नहीं हो सकता। ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता चैतन्य बिंब ही हुआ करता है। यह बात उदाहरण से समझ में आ सकती है। एक व्यक्ति दर्पण के सामने खड़ा था। उसने दर्पण में देखा कि उसका शत्रु सामने आगया है। यह शत्रु का ज्ञान उस व्यक्ति (बिंब) को हुआ है या उसके दर्पण में प्रतिबिंब को ? कहना पड़ेगा बिंब को। अब बिंब ने तलवार निकाली तो प्रतिबिम्ब ने भी निकाल ली। बिंब (उस व्यक्ति) ने शत्रु का सिर काट दिया तो उसी समय प्रतिबिंब ने भी शत्रु का सिर काट दिया। यह सिर किसने काटा बिंब ने या प्रतिबिंब ने ? तो मानना पड़ेगा कि बिम्ब ने सिर काटा है।

उधर से पुलिस अफसर आ गया तो बिंब ने कहा मैंने यह हत्या नहीं की। "फिर किस ने की है" ? पुलिस अफसर ने पूछा। बिंब ने एक अद्वैतवादी को अपना साक्षी पेश किया जिसने कहा कि यह हत्या इसके प्रतिबिंब ने की है। इसने नहीं की। तो क्या पुलिस अफसर उसको छोड़ देगा और पागलों की तरह प्रतिबिंब को पकड़ने की कोशिश करेगा ? कभी नहीं ! क्योंकि ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता बिम्ब ही होता है, प्रतिबिंब तो शून्य होता है। इसलिये यदि चिदाभास (ब्रह्म के प्रतिबिंब को) जीव मानोगे तो ब्रह्म को ही कर्ता भोक्ता मानना पड़ेगा और तमाम पाप कर्मों का कर्ता याने पापी ब्रह्म को ही मानना पड़ेगा। इस लिये मैं (ईश्वर का उपासक जीव) हाथ जोड़कर विनय करता हूँ कि जीव की सत्ता सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न मान लें ताकि ब्रह्म को पापी न कहना पड़े।

एक प्रश्न होता है कि जब सत्संग में आप सत्संगियों को उपदेश देते हैं कि "आप सब ब्रह्म हैं" तो क्या उस समय आप उनको अपने से पृथक् जीव समझते हैं ? यदि ब्रह्म से भिन्न उनको जीव समझ कर उपदेश देते हैं तो अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। यदि उनको अपनी तरह ब्रह्म ही समझते हो तो ब्रह्म को उपदेश क्यों देते हो ? आपका उनको उपदेश देना सिद्ध करता है कि आप उनको ब्रह्म नहीं समझते वरना आप उनको उपदेश क्यों देते। फिर आपका उनको यह उपदेश देना कि अपने आपको ब्रह्म समझो यह सिद्ध करता है कि उन को इस बात का ज्ञान नहीं कि वह ब्रह्म हैं। जिनको यह ज्ञान नहीं कि वह ब्रह्महै ऐसे अज्ञानियों को आप ब्रह्म कैसे कह सकते हैं ? यदि वह ब्रह्म होते तो उनको ऐसे उपदेश की जरूरत ही नहीं क्योंकि ब्रह्म तो अपने आपको जानता है कि वह ब्रह्म है। ब्रह्म को यह उपदेश देना कि तू अपने आपको ब्रह्म समझ, ब्रह्म का अपमान करना है।

अद्वैतवादी महात्मा की पदवी ब्रह्म से ज्यादा है क्योंकि वह ब्रह्म को उपदेश करता है कि तू अपने आपको ब्रह्म समझ, जीव मत समझ। ब्रह्म के भ्रम को दूर करता है।

यदि अद्वैतवादी महात्मा, अपने आपको सचमुच ब्रह्म समझते हैं, और ब्रह्म हैं, तो फिर वह उपासक बनकर उपास्य-देव परमात्मा की उपासना क्यों करते हैं ? उनका यह उपासना का व्यवहार सिद्ध करता है कि वह अपने आपको ब्रह्म नहीं मानते वरना ब्रह्म को ब्रह्म की उपासना करने की क्या आवश्यकता है? वह अपने आपको ब्रह्म कहते तो हैं पर मानते नहीं। यदि मानते तो फिर उपासना न करते। अपने आपको ब्रह्म कहना तो सरल है परन्तु अपने आपको ब्रह्म जैसे गुण, कर्म, स्वभाव वाला मानना बहुत कठिन है। जब वह अपनी

अल्पज्ञता को, अपनी अल्पशक्ति को, अपनी अपूर्णता को अपनी परिच्छिन्नता को और अपने आपको जन्ममरण के बन्धन में बांधा हुआ देखता है और उधर ब्रह्म की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमानता, पूर्णता, सर्वव्यापकता, स्वतन्त्रता, अपरिछिन्नता, उसकी अद्भुत सृष्टि रचना, और उसकी सब प्रकार महानता को देखता है और जब यह अनुभव करता है कि परम पिता परमात्मा ही उसका एक परम श्रेष्ठ सहारा है तो उसको (जीवात्मा को) अपने लघुत्व (अल्पता याने छोटेपन) का ज्ञान होता है। उस समय वह उपासक बनकर उस उपास्य देव के चरणों में झुक जाता है और कहता है "प्रभु ! तू महान् है"। जीव का अपना अनुभव ही उसको निश्चय करा देता है कि परमात्मा समुद्र के समान महान् है और जीव बिन्दु के समान छोटा है। याने वह उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश के बराबर है।

यह जो कहते हैं कि जीव ब्रह्म का अंश है इसका अभिप्राय यह ही है कि जीव इतना छोटा है कि वह उसके अंशके बराबर है—[उसका अंश नहीं, उसके अंश के बराबर है]।

तो पूज्य स्वामी जी ! जीव अहंकार का जब दुरुपयोग करता है तो कहने लगता है "अहं ब्रह्मास्मि" कि मैं ब्रह्म हूँ, सृष्टि का रचयिता ब्रह्म मैं ही हूँ। परन्तु जब उसका अहंकार टूटता है तो फिर महान् ब्रह्म के सामने अपने लघुत्व (छोटेपन) का अनुभव करता है। नम्र होकर उसके आगे झुक जाता है। इसलिये जीव कभी ब्रह्म नहीं कहला सकता। वह अपने तत्वज्ञान से और अपने अनुभव से भी उसको अपने से महान् मानता है और अपने व्यवहार में भी उसको अपने से महान् मानकर उसका उपासक बन कर उस उपास्य देव की उपासना करता है। इसलिये मानना पड़ता है कि जहां ब्रह्म की व्यापक सत्ता हैं वहां जीवों की व्याप्य सत्ता भी है। जीव की अलग

सत्ता मानने से यह तात्पर्य नहीं कि जीव किसी अन्य स्थान में हैं और ब्रह्म अन्य स्थान में। या इन दोनों का परस्पर संबन्ध नहीं है। या इन दोनों में कोई सादृश्य नहीं है। ब्रह्म और जीव में भेद भी है और अभेद भी। सर्वथा भेद मानना या सर्वथा अभेद मानना नहीं बन सकता। कुछ गुणों की समानता है जैसे दोनों, अजर, अमर, अनादि, अनन्त (काल से) निराकार, सूक्ष्म, सत्, चित्, आत्मा हैं। देश और काल की अपेक्षा ब्रह्म और जीव में भेद नहीं,जीवो ब्रह्मैव नापरः। जीव और ब्रह्म में दूरी का भेद नहीं। परन्तु बहुत से गुण, कर्म, स्वभाव में समानता नहीं। वह भेद ऊपर लिखे जा चुके हैं। कुछ गुणों की समानता से सत्ता एक नहीं हो सकती।

अब एक प्रश्न यह है कि यदि जीवों की ब्रह्म से अलग सत्ता है तो इन में सम्बन्ध क्या है?

(१) व्यापक और व्याप्य का सम्बन्ध है याने एक ही काल में एक ही स्थान में दोनों व्यापक व्याप्य होकर रहते हैं। परमात्मा जीवात्मा की अन्तरात्मा होकर उसमें निवास करता है। इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीव और ब्रह्म में एक विचित्र आकर्षण शक्ति है। ब्रह्म जीव पर दया करता है और जीव विना ब्रह्म के आनन्दित नहीं हो सकता। इस लिये जीव में एक आन्तरिक प्रवृत्ति (झुकाव) होती है कि वह ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उत्सुक (इच्छुक) हो। इस आन्तरिक प्रवृत्ति की प्रेरणा से सांत जीव अनन्त ब्रह्म की ओर दौड़ता है और इसी दौड़ में उसे आनन्द मिलता है। क्योंकि:—

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति। छान्दो० ७।२३।१

अर्थात् अनन्त में सुख है अल्प में सुख नहीं, (ब्रह्म अनन्त हैं जीव अल्प हैं) (२) पिता-पुत्र का सम्बन्ध है (३) माता पुत्र का सम्बन्ध है। (४) वह जीव का सखा है (५) वह जीव का

सम्बन्धी हैं (६) वह जीवों का राजा है (७) जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की सब उपमायें समाप्त हो जाती हैं जब जीव कहते हैं "त्वमस्माकं तव स्मसि" "तू हमारा है और हम तेरे है।" यह निकटतम सम्बन्ध की एकता है।

एक प्रश्न होता है कि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य क्या है ?

संसार के सब मनुष्य आनन्द चाहते हैं। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि सब आनन्द को प्राप्त करने में लगे हुए हैं। यही उन सब के जीवनका लक्ष्य है। प्रश्न होता है आनन्द कौन चाहता है? मनुष्य दो चीजों के संयोग से बनता है एक शरीर, दूसरा आत्मा। शरीर तो जड़ है इसलिये इस में तो आनन्द की इच्छा नहीं हो सकती। चेतन आत्मा को ही इसकी इच्छा हो सकतीहै। यदि यह आत्मा जो शरीर के अन्दरहै वह परमात्मा है तो परमात्मा तो आनन्दस्वरूप है। उसको तो आनन्द प्राप्त है। प्राप्त चीज की प्राप्ति के लिये कोई व्यर्थ यत्न नहीं करता। इसलिये परमात्मा को भी इसके प्राप्त करने की इच्छा नहीं हो सकती। तो फिर शरीर के अन्दर और कौन चेतन आत्मा है जो आनन्द को प्राप्त करने के लिये यत्न करता रहता है ? वह चेतन जीवात्मा ही हो सकता है क्योंकि वह निरानन्द है जैसा कि वेदान्त दर्शन १।१।१६ में लिखा है। "नेतरोऽनुपपत्तेः" अर्थात् ब्रह्म से भिन्न जो जीवात्मा है वह आनन्दमय नहीं हो सकता। स्वामी शंकराचार्य जी ने भी जीव को निरानन्द ही कहा है। इसलिये यह जीवात्मा जो परमात्मा से भिन्न है और परमात्मा के साथ ही शरीर में निवास करता है,आनन्द को प्राप्त करने के लिये यत्न करता रहता है। संसार के प्राकृतिक पदार्थों में उसकी खोज करता है। जब उसको अच्छी तरह से निश्चय हो जाता है कि आनन्द

प्राकृतिक पदार्थों में नहीं, आनन्द का भण्डार परमात्मा ही है जो कि इसकी अन्तरात्मा है तो वह योगाभ्यास से समाधिस्थ होकर परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करके आनन्दित होता है और जीवन मुक्त हो जाता है। जब शरीर को छोड़ता है तो विदेह मोक्ष को प्राप्त होता है और इस अवस्था में एक दीर्घकाल तक मोक्षानन्द को भोगता है।

अद्वैतवाद क्या है ?

आज कल कुछ अद्वैतवादी श्री व्यासदेव के वेदान्त दर्शन का, वेद शास्त्रों का गलत प्रचार करके स्पष्ट सिद्ध द्वैत को किसी प्रकार अद्वैत सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह अद्वैत सिद्ध तो होता नहीं, हां विचित्र-विचित्र शब्द योजना द्वारा (जैसे सामान्य चेतन, विशेष चेतन, अन्तःकरण का दर्पण, अन्तःकरण-उपहित सामान्य-चेतन, बिंब, प्रतिबिंब, चिदाभास, कल्पित विशेष चेतन, जगत् मिथ्या, शिवोऽहं इत्यादि) इसको आरोपित करने की चेष्टा की जाती है। हमको अद्वैत से घृणा नहीं। परन्तु दो स्पष्ट अलग-अलग सत्ताओं को एक मानने मात्र से क्या लाभ ? एक अर्थ में अद्वैतवाद ठीक ही है। गुण, कर्म, स्वभाव से ब्रह्म एक ही है दो नहीं According to his गुण, कर्म, स्वभाव He is one without a second. that is no one is greater or similar to Him from his गुण, कर्म, स्वभाव point of View उससे बड़ा और उस जैसा तो कोई नहीं पर उससे छोटे और भिन्न-भिन्न गुण, कर्म, स्वभाव वाले पदार्थ तो हो सकते हैं। एक व्यक्ति यदि यह कहे कि भारतवर्ष में एक महात्मा गांधी ही महात्मा गांधी हैं तो इसका अभिप्राय यह होगा कि महात्मा गांधी के बराबर या उससे बड़ा और कोई नहीं। इसका अभिप्राय यह कभी नहीं होसकता कि महात्मा गांधी के सिवा भारतवर्ष में कोई और है ही

नहीं। इसका मतलब यह होगा कि भारत-निवासी तो बहुत हैं पर गांधी जैसा और कोई नहीं। एक और व्यक्ति कहता है कि इस पाठशाला में रामचन्द्र ही एक अध्यापक है। इसका अभिप्राय यह थोड़ा ही होगा कि सारी पाठशाला में और कोई अध्यापक है ही नहीं। इसका मतलब यह होगा कि और अध्यापक तो हैं पर उस जैसा योग्य अध्यापक और कोई नहीं। इसी तरह जब हम कहते हैं कि ब्रह्मांड में एक ब्रह्म ही ब्रह्म है तो इसका वास्तविक अर्थ यह होता है कि उस जैसी गुण, कर्म, स्वभाव वाली और कोई हस्ती (सत्ता) नहीं। ब्रह्म के अर्थ हैं बड़े। यदि इससे छोटा और कोई न हो तो परमात्मा को बड़ा कहना ही निरर्थक हो जायेगा। दो पदार्थ ब्रह्म से छोटे और भिन्न-भिन्न गुण वाले और भिन्न-भिन्न सत्ता वाले हैं। एक तो है जगत् का उपादानकारण प्रकृति (Matter) जो कि "सत्" (Eteranl) है, परन्तु जड़, ज्ञान,—शून्य, गतिशून्य आनन्द शून्य और परतन्त्र है। दूसरा है जीव की भिन्न चैतन्य सत्ता। जीव अनेक हैं। "जीव सत्" (Eternal), चित्, कर्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु कर्म फल भोगने में परतन्त्र, आनन्द प्राप्त करने का इच्छुक शरीर रूपी रथ पर बैठकर आनन्द प्राप्त करने के लिये जगत् में यात्रा करता है। परमात्मा सत्, चित् और आनन्द (सच्चिदानन्द) है जो जीवों को कर्मों का फल देने के लिये कर्माध्यक्ष है और जिन जीवों की जीवन यात्रा योगाभ्यास से सफल हो जाती है उनको अपना आनन्द देकर उनको सत् चित् से सत् चित् आनन्द बना देता है। इसीलिये ईश्वर सब से बड़ा है और उसको ब्रह्म याने बड़ा कहते हैं। जीव और प्रकृति इस से छोटे हैं। यदि आपका अद्वैतवाद यह हो कि गुण, कर्म, स्वभाव से परमात्मा अद्वैत (अद्वितीय) है, अनुपम है, एक ही है, इसके बराबर या

इससे बड़ा कोई नहीं परन्तु इससे छोटी वस्तुयें जीव और प्रकृति भी ब्रह्म से पृथक्-पृथक् अनादि काल से चली आ रही हैं तो फिर यह अद्वैतवाद ठीक है। जड़ जगत् को भी और अल्पज्ञ आनन्द के भिखारी जीव को भी ब्रह्म मानना यह अद्वैतवाद नहीं मिथ्यावाद है। वास्तव में कहने का ढंग भिन्न-भिन्न है वरना मानते तो सब त्रैतवाद ही हैं क्योंकि तीन के विना सृष्टि की रचना ही नहीं हो सकती। प्रकृति, जीव और ब्रह्म तीनों को मानना ही पड़ता है। परन्तु वेद शास्त्रों के अनुसार उनकी पृथक् २ अनादि सत्ता न मान कर उनको अपने मनमाने ढंग से मानते हैं। ब्रह्म के तीन हिस्से कर दिये। ब्रह्म के एक भाग को विना माया के बताकर उसको शुद्ध ब्रह्म कहा है या सामान्य चेतन कहा है। दूसरा भाग वह है जो अहङ्कार से लिपट पड़ा है "मैं हूं" ऐसा सोचता है। इसको वह अन्तः-करण विशिष्ट ब्रह्म, विशेष चेतन, चिदाभास अर्थात् जीव कहते हैं। तीसरा भाग वह ब्रह्म है जिसका (वह कहते हैं)वर्णन नहीं हो सकता (अनिर्वचनीय है)। जिससे यह सारा जगत् बना है। इस माया को ईश्वर की शक्ति भी कहते हैं। जगत् गुरु शंकराचार्य का शुद्ध ब्रह्म ही परमात्मा है (जो जड़ माया से भिन्न और अतीत है)। उनका जीव अथवा अन्तःकरण ही कर्ता और भोक्ता जीवात्मा है। और जड़, गति शून्य, ज्ञान और आनन्द शून्य माया ही प्रकृति (Matter) है जिससे ईश्वर जगत् बनाता है। तीनों को माना तो है पर उनके वास्तविक स्वरूप को बिगाड़ कर माना है।

माया को ब्रह्म की शक्ति कह दिया है। परन्तु माया जड़ है, माया में दुःख है। प्रश्न होता है जब ब्रह्म चेतन है तो उस की शक्ति जड़ कैसे हो गई, ब्रह्म आनन्द से परिपूर्ण है तो उस का एक भाग (माया वाला) दुःख में कैसे डूब गया ? माया

को ब्रह्म की शक्ति कहा है और माया को झूठा भी कहा है। सत्य ब्रह्म की शक्ति झूठी कैसे हो गई ? माया झूठी तो जगत् भी झूठा। और जगत् झूठा तो ब्रह्म भी झूठा क्योंकि जगत् को भी वह ब्रह्म मानते हैं। कहते हैं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" याने सब कुछ ब्रह्म ही है। और ब्रह्म को सत्य कहते हैं तो जगत् मिथ्या कैसे हो गया ? कैसा विचित्र मत है। कहते तो हैं हम सब ब्रह्म हैं परन्तु जीव की तरह उपासक बन कर परमात्मा को उपास्यदेव मानकर उसकी उपासना भी करते हैं, अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रार्थी बनकर उससे प्रार्थना भी करते हैं कि हे ईश्वर हमारी सहायता कर। और फिर भी कहते हैं "सृष्टि का रचयिता ब्रह्म मैं ही हूं।" दुःख भी उठाते हैं रोते भी हैं और जन्म मरण के बन्धन में बन्धे हुए भी हैं और घोड़े, कुत्ते आदि की योनियों में भटकते भी हैं और कई प्रकार के पाप कर्म भी करते हैं और फिर भी कहते हैं "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ। एक मांसाहारी, जुआरी, व्यभिचारी, शराबी, शराब के नशे में बेहोश नाली में पड़ा है और कुत्ते मुंह चाट रहे हैं, मक्खियां मुंह पर चिपटी हुई हैं और लड़के ताली बजाकर उपहास कर रहे हैं (हंसी उड़ा रहे हैं)। जब उससे पूछा गया तू कौन है ? कहने लगा "अहं ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूं "शिवोऽहं" मैं शिव हूं, "अयम् आत्मा ब्रह्म" ऐसा कहना ब्रह्म का उपहास करना है, ब्रह्म का अपमान करना है।

पूज्य स्वामी जी ! यह ऐसा क्यों हो रहा है ? इसका एक ही कारण है कि अद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये वेद-शास्त्रों के सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रचार हो रहा है। जीव प्रकृति और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूपों को लोगों के आगे न रखकर उनको यह उपदेश दिया जा रहा है कि ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं और तुम सब भी ब्रह्म ही हो। अपने आपको ब्रह्म

ही समझो। इसीलिये सब विना सोचे समझे अपने आपको सृष्टि का रचयिता ब्रह्म मान रहे हैं। सब प्रकार के पाप भी करते जाते हैं और अपने आपको "अहं ब्रह्मास्मि" भी कहते जाते हैं। यह महात्मा लोग यदि ब्रह्म से भिन्न किसी और चेतन को पापी बतलाते हैं तो इनका मनमाना अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। इसलिये इनकी कोशिश यही है कि किसी तरह अद्वैतवाद सिद्ध हो जाये। छा० उप० ३। १४। १ में जो यह लिखा है:—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।"

प्रचलित अद्वैतवाद को स्पष्ट करने के लिये इस वाक्य के प्रायः प्रथम भाग "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का अधिक प्रयोग किया जाता है। उसका अर्थ करते हैं—निश्चित ही यह जो कुछ है दृश्यादृश्य जगत्—सब ब्रह्म है। यदि इस वाक्यांश का वस्तुतः (सचमुच) ऐसा ही अर्थ है तो फिर ब्रह्म जिज्ञासु को जगत् की ही उपासना करनी होगी क्योंकि जब यह जगत् ब्रह्म ही है तो जगत् की उपासना ही ब्रह्म की उपासना होगी। जगत् के ऐश्वर्यों को प्राप्त करना और उनको भोगना ही उसकी उपासना है। ऐसा मानने पर यह उपदेश वास्तविकता से दूर सर्वथा अनर्थरूप होगा।

उपनिषद् के पूरे वाक्य का अर्थ उपनिषत्कार के ब्रह्म की उपासना के उपदेश के प्रकरणानुसार इस प्रकार समझना चाहिये।

सर्वं खल्विदं तज्जलान् इति अवबुध्य शान्तः सन् ब्रह्म उपासीत।

अर्थात् यह सब जगत् तज्ज (उसी से उत्पन्न, उसी से लगा हुआ) तल्ल (उसमें लगा हुआ) तदनु (उसी तरह तदन्तर] है।

ऐसा समझकर, शान्त हो, जिज्ञासु ब्रह्म की उपासना करे। इस जगत् का उत्पन्न करने वाला, धारण करने वाला और प्रलय करने वाला ब्रह्म ही है। इसलिये इस जगत् में न फंसकर उसी ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये जो इस जगत् को बनाता, बिगाड़ता और रक्षा करताहै। वस्तुत: वाक्य में "ब्रह्म" पद "उपासीत" क्रिया का कर्म है। यहां इस बात पर बल दिया गया है कि हे उपासक जीव! तू इस संसार में जो फंस रहा है और इसी को सब कुछ समझ रहा है यह तेरी नादानी है। अरे! जो इसको बनाने और बिगाड़ने का सामर्थ्य रखता है और जिसकी शक्ति से इस समय यह संचालित है उसकी उपासना कर वह ब्रह्म है (सबसे बड़ा है) यह जगत् तो विकार-मात्र है, परिणामी है, यह समझकर शान्तिपूर्वक उस ब्रह्म की उपासना करना योग्य है। फलत: इस वाक्य द्वारा जगत् को ब्रह्म नहीं बताया गया, जगत् तो एक विकारमात्र परिणामी तत्त्व है, इसके अधिष्ठाता अपरिणामी ब्रह्म की उपासना करने का यहां उपदेश है। इसका वास्तविक अर्थ तो ब्रह्म के इच्छुक, ब्रह्म के उपासक जीव ही समझ सकते हैं। अपने आपको ब्रह्म कहने वाले तो इसका अनर्थ करके अपने अद्वैतवाद को सिद्ध करने की धुन में ही लगे हुए हैं।

ब्रह्म की उपासना का ऐसा ही उपदेश अथर्ववेद १०-८-१ में दिया है :—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अर्थात् हे जीव! जिसको भूत, भविष्य और वर्तमान काल का ज्ञान है, जो जगत् का अधिष्ठाता है, और जो आनन्द का भंडार है उस परम ब्रह्म परमात्मा को नमस्कार कर।

जगत् को ब्रह्म कहीं नहीं कहा गया अपितु ब्रह्म को जगत्

का कर्त्ता, रक्षक और संहारकर्त्ता कहा गया है (त्वमेकं जगत् कर्तृ पातृ-प्रहर्तृ) ।

अतः प्रचलित अद्वैतवाद का यह सिद्धान्त "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह सब कुछ ब्रह्म ही हैं—किसी वेद आदि शास्त्रों के प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध नहीं हो सकता । वेद शास्त्रों के सब प्रमाण और युक्तियां इसके विरुद्ध हैं और त्रैतवाद के पक्ष में है । त्रैतवाद युक्ति युक्त वैदिक सिद्धांत है । तीन अनादि, नित्य सत्ताओं के विना जगत् बन ही नहीं सकता । कोई भी बनी हुई चीज हो तो प्रश्न होता है कि किसने बनाई है ? किसके लिए बनाई है और किससे बनाई ? यही प्रश्न जगत् के बनने पर होता है—जगत् किसने बनाया हैं, किस के लिये बनाया हैं और किससे बनाया हैं ? इसका स्पष्ट उत्तर तो यह है कि जगत् को परमात्मा ने बनाया है, जीव की उन्नति के लिये बनाया है [उद्यानं ते पुरुष "मैंने तुझे ऊपर उठने याने उन्नति करने के लिये जगत् में भेजा हैं] और प्रकृति से जगत् को बनाया हैं और इसमें तमाम वह चीजें बनाकर जीव को दी जो उसकी जीवन-यात्रा और लक्ष्य-प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं । जगत् के बनने से तीनों की भिन्न-भिन्न सत्ता जाहिर (प्रगट) हो रही है । यदि जगत् न बनता तो न प्रकृति न जीव और न ब्रह्म की हस्ती (अस्तित्व) जाहिर हो सकती । जगत् के बनने से तीनों का होना भी सफल हो गया है । वरना तीनों बेकार पड़े रहते । प्रकृति को कारण से कार्यरूप देकर (जगत् बनाकर) जाहिर कर दिया, प्रकृति के शरीर बनाकर उनमें जीवों को डालकर जीवों को जाहिर कर दिया और प्रकृति से जगत् बनाकर उसमें अपनी पूर्ण कला (कारीगरी), पूर्ण ज्ञान, और शक्ति लगाकर अपने आपको जगत् का बनानेवाला कारीगर जाहिर करदिया । अपने आपको जाहिर किन पर करदिया? जीवों पर । जीवों पर अपने आपको किस तरह

जाहिर किया ? जगत् रचना करके और जीवों को बुद्धि और अपने ज्ञान का प्रकाश देकर अपने आपको उन पर जाहिर कर दिया। यदि जगत् बनाकर जीवों को अपने ज्ञान का प्रकाश न देता तो जगत् का बनाना निरर्थक हो जाता। इस तरह पूर्ण जगत् की रचना तीन चीजों से हुई। ओ३म् के नाम के तीन अक्षरों अ उ म् से भी यही मालूम होता है कि जगत् की रचना तीन से हुई है। अ=परमात्मा, उ=जीवात्मा, म=माया (प्रकृति) (Matter), चूंकि सबसे पहले और सबसे बड़ी बनी हुई चीज तीन चीजों से मुकम्मल हुई है इसलिये तीन चीजों का नमूना किसी न किसी तरह आ रहा है। सबसे पहले है जीव, प्रकृति परमात्मा—फिर जगत् में कुम्हार, मिट्टी और घड़ा। घर में पति, पत्नी और पुत्र। दुकान पर दुकानदार, खरीदार और बेचने की चीजें। नीलामी में एक, दो तीन, तीन पर फैसला हो जाता है। दौड़ में एक, दो. तीन-तीन पर सब दौड़ने लगते हैं। परीक्षा (इम्तहान) में पास होने वालों के तीन (Division) दर्जे होते हैं (First) फस्ट, (second) सेकंड और (Third) थर्ड। रेलगाड़ी के डब्बे में तीन दर्जे First, second और Third। सत्संग में वक्ता, श्रोता और उपदेश। भक्ति में भगवान्,भक्त और भक्ति। उपासना में उपासक,उपास्य-देव और उपासना। ध्यान में ध्याता,ध्येय और ध्यान। ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान। साधना में साधक, साध्य और साधना। प्रेम में प्रेमी, प्रियतम और प्रेम। स्तुति में स्तोता, स्तुत्य और स्तुति। नियमों में नियम्य,नियन्ता और नियम। यात्रा में यात्री, यात्रा की सामग्री और यात्रा का लक्ष्य। राज्य में राजा, प्रजा और राज्यैश्वर्य। गुरु,शिष्य और विद्या। कर्म, कर्मफल और कर्म फलदाता। राज्य में तीन सभा—राज्य सभा, धर्म सभा और शिक्षासभा। बीज, वृक्ष और फल उपासना के लिये तीन चीजों

का होना आवश्यक है : (१) प्रकृति का बना हुआ शरीर (२) जीव (३) ब्रह्म ।

रसोई में—रोटी बनाने वाला, रोटी खाने वाला और रोटी ।

नरक—नरक में जाने वाला, नरक में डालने वाला और पापकर्म ।

अस्पताल—डाक्टर, रोगी और औषधि

न्यायालय—न्यायाधीश, वकील, मुकदमा

सृष्टि—ब्रह्मा, विष्णु, महेश,(शिव) । (उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय)

द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ।

यात्रा—सवार, घोड़ा, मंजिल इत्यादि

अवस्था—बाल्यावस्था, यौवनावस्था, वृद्धावस्था

लोक—द्यौलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवीलोक

तीन काल—भूत, भविष्य, वर्तमान इत्यादि

इसी तरह देखने से मालूम होता है कि जगत् में तीन का कितना महत्त्व है । इसका कारण यह है कि तीन ही अनादि सत्तायें (जीव, प्रकृति और ब्रह्म) हैं और इन तीनों से ही जगत् की रचना हुई है । निमित्त कारण ब्रह्म ने उपादान कारण प्रकृति से जगत्रूपी यात्रा क्षेत्र बनाया जिसमें जीव यात्री बन कर यात्रा करता है ब्रह्म प्राप्ति के लिये ।

वेद का जो युक्तियुक्त त्रैतवाद का सिद्धान्त है उसी को मानना चाहिये । प्रकृति को प्रकृति, जीव को जीव और ब्रह्म को ब्रह्म ही समझना चाहिये । जो महावाक्य अद्वैतवादी पेश करते हैं ।

प्रज्ञानं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म ।

उनसे जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती। इनके सम्बन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है। एक और महावाक्य भी पेश करते हैं "शिवोऽहं" जिसके अर्थ करते हैं मैं शिव याने ब्रह्म हूँ। परन्तु यह तो वेद वाक्य ही नहीं।

यजुर्वेद ११। ४५ में लिखा है:—

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः। मा द्यावा पृथिवी अभिशोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्॥

अर्थात्—हे प्यारे जीव! (त्वम् मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवःभव) तू मानुषी प्रजाओं के लिये शिव हो, कल्याणकारी हो। सबसे प्यार कर सबकी सेवा कर, सबको सुखी बना। इसका उपाय भी इसी मन्त्र में बताया है। वेद माता के इस आदेश पर यदि हम अमल करना शुरू कर दें तो हम सचमुच मनुष्यों के लिये कल्याणकारी याने शिव हो जायेंगे। उस वक्त हम फखर (गौरव) से कहेंगे ए माता "शिवोऽहं" मैं शिव याने कल्याण-कारी हो गया हूँ। (ब्रह्म नहीं)

वेद माता तो जीव को कहती है तू "शिवो भव" याने कल्याणकारी बन। और यह कहते हैं "शिवोऽहं" मैं शिव याने ब्रह्म हूँ। वेद माता कहती है शिव याने कल्याणकारी बन और यह कहतेहैं मैं शिव याने ब्रह्म हूं। इस वेद मन्त्र के पढ़ने के बाद क्या कोई अपने आपको "शिवोऽहं" याने मैं शिव याने ब्रह्म हूं ऐसा कहने का साहस करेगा?!

अद्वैतवादी ऐसा क्यों मानते हैं कि यह सब कुछ ब्रह्म ही है? योगी जब अपनी आत्मा और मन को बलवान् बना लेता है तो उसमें उच्च कोटि की आस्तिक बुद्धि पैदा हो जाती है और उसका प्रत्येक कार्य उसी बुद्धि से प्रभावित हुआ करता है। वह ईश्वर को महान् समझने लगता है और उसके प्रेम में इतना मग्न हो जाता है कि सबमें और

सब कुछ उसे ओम् (ईश्वर) ही दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार एक लोहे के गोले को जब अग्नि में खूब तपा लेते हैं और वह लाल अंगारे के सदृश हो जाता है तब गोले को लोहा कहें तब भी ठीक है। यदि अग्नि कहें तब भी ठीक है। इसी प्रकार जगत् तो लोहे के गोले के सदृश है और ब्रह्म अग्नि अपने सर्व व्यापकत्व से उस में अग्निवत् व्यापक है। इस दिशा में यदि जगत् को प्रकृति कहें तो भी ठीक है, यदि ब्रह्म कहें तब भी ठीक है। परन्तु जिस प्रकार लोहा और अग्नि उस गोले में पृथक्-पृथक् जाने और माने जाते हैं इसी प्रकार जगत् में भी प्रकृति और ब्रह्म पृथक्-पृथक् जाने और माने जाते हैं, न प्रकृति ब्रह्म हो जाती है, न ब्रह्म प्रकृति। प्रेमी चूंकि ब्रह्म के प्रेम में मग्न है और उसीमें लवलीन हो रहा है इसलिये उसे प्रकृति नहीं अपितु ब्रह्म ही ब्रह्म सबजगह दिखाई देने लगता है इसीलिये "तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथमावल्ली के अष्टमोऽनुवाक में कहा गया है" "ओम्, इति, इदम्, सर्वम्" यह सब कुछ ओम् (ब्रह्म) ही है। जब प्रेम पूर्ण हो जाता है तब मैं मिट जाती है और तू ही तू रह जाता है। तब ऐसे प्रेमी भक्त को संसार के प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म के दर्शन होने लगते हैं। उसको प्रकृति नहीं अपितु ईश्वर ही ईश्वर सब जगह दिखाई देने लगता है। इसीलिये यहां कहा गया है "यह सब कुछ ओम् ही है।"वास्तव में यह सब कुछ ब्रह्म नहीं। यह तो ईश्वर के प्रेम में लवलीन भक्त को ऐसा दिखाई देता है।

अद्वैतवादी इस वाक्य (ओम्, इति, इदम्, सर्वम्) से अद्वैतवाद को सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। परन्तु सिद्ध होता नहीं।

पूज्य स्वामी जी महाराज! निम्नलिखित बातों पर आप पुनः ध्यानपूर्वक विचार करें और देखें कि वेद शास्त्रों का

सिद्धांत त्रैतवाद ठीक है या आपका अद्वैतवाद।

उपासना के अर्थ हैं–(उप=समीप, आसन=बैठना) समीप बैठना। प्रश्न होता है कि यदि ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला कोई है ही नहीं तो फिर ब्रह्म के समीप बैठकर ब्रह्म की उपासना करने वाला उपासक कौन है ? यह चैतन्य जीवात्मा ही ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला ब्रह्म का उपासक हो सकता है वरना उपासना का शब्द ही निरर्थक हो जाता है। समीप बैठने के लिये दूसरे का होना आवश्यक है। यदि दूसरी चैतन्य सत्ता नहीं मानोगे तो फिर यह कहना पड़ेगा कि ब्रह्म ब्रह्म के समीप बैठकर ब्रह्म की उपासना करता है। यह तो एक हास्यास्पद (हंसी की) बात हो जायेगी। या तो उपासना का शब्द वेद से निकाल दो या ब्रह्म के समीप बैठने वाले जीवात्मा की सत्ता ब्रह्म से भिन्न मान लो।

"तमसः परस्तात्" (यजु० ३१।१८) वह परमात्मा अज्ञान-अन्धकार से बिल्कुल परे है। प्रश्न होता है यदि ब्रह्म से भिन्न कोई और चैतन्य सत्ता नहीं है तो फिर अज्ञानवश पाप कौन करता है ? ब्रह्म तो ज्ञानस्वरूप "शुद्धमपापविद्धम्" है। तो फिर ब्रह्म से भिन्न अज्ञानी चेतन जीवात्मा का होना मानना ही पड़ता है।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

प्रश्न होता है जब ब्रह्म के सिवा कोई और चैतन्य सत्ता है ही नहीं तो फिर यह माता-पिता कहने वाला ब्रह्म का पुत्र कहां से आ गया ? पुत्र के विना तो माता-पिता के शब्द ही निरर्थक हो जाते हैं। यह जीवात्मा परमात्मा के पुत्र हैं।

"सर्वं खल्विदम् ब्रह्म" "यह सब कुछ ब्रह्म है" यह "सब कुछ" कहने की आवश्यकता इसलिये पड़ी क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त और चीजें भी हैं परन्तु प्रधान ब्रह्म है। प्रधान का

नाम लिया जाता है। जुलूस आ रहा था। किसी ने पूछा यह सब कुछ क्या है ? उत्तर मिला गांधी जी आ रहे हैं। जुलूस में तो स्त्री, पुरुष, बच्चे, घोड़े थे, बाजे बज रहे थे, सब कुछ था लेकिन नाम केवल गांधी जी का लिया गया। इसी तरह सब कुछ होते हुए नाम केवल ब्रह्म का लिया गया। यदि और कुछ न होता सिर्फ ब्रह्म ही होता तो ऐसा लिखा जाता "यह जिसको हम देख रहे हैं वह ब्रह्म है। यह "सब कुछ" लिखने की आवश्यकता न होती।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ऋ० १।२२।१९

इस मन्त्र में बताया है "इन्द्रस्य युज्यः सखा" कि परमात्मा जीव का सर्वदा साथ रहने वाला सखा है।

इससे जीव और परमात्मा की साफ भिन्नता जाहिर होती है क्योंकि मित्रता का भाव दो भिन्न पदार्थों में ही सम्भव हो सकता है, एक में नहीं।

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥ ऋ. १।१।७

अर्थात्:—"हे अग्ने ! (वयं) हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषा-वस्तः) सायं प्रातः(धिया) बुद्धि व कर्म से (नमोभरन्तः) नमस्कार की भेंट लाते हुए (त्वा) तेरे (उप) समीप (एमसि) आ रहे हैं।" प्रश्न होता है यह "वयं" (हम) शब्द किसके लिये इस्तेमाल हुआ है जो कह रहे हैं कि हम नमस्कार की भेंट लाते हुए तेरे (परमात्मा के) समीप आ रहे हैं ?

यह ब्रह्म से भिन्न चेतन सत्ता वाले जीवों के सिवा और कौन हो सकते हैं। सब ऐश्वर्य तो भगवान् का है। भगवान् की वस्तुओं को भगवान् की भेंट करना भी कोई भेंट करना है ?

बिचारे भक्त जीवों के पास सिवाय नमस्कार के और है भी क्या ? इसलिये वह नमस्कार की भेंट लेकर उसके समीप जा रहे हैं।

यदि एक ही ब्रह्म होता तो वेद का यह मन्त्र निरर्थक हो जाता, ब्रह्म से भिन्न उपासक जीवों की सत्ता होने से यह मन्त्र सार्थक हो रहा है। ब्रह्म एक है, जीव अनेक हैं इसलिये वयं(हम) शब्द का प्रयोग हुआ है। वेद के "वयं" शब्द में सब अद्वैतवादी भी सम्मिलित (शामिल) हैं और वह भी जीवों के साथ मिल कर परमात्मा को नमस्कार की भेंट कर रहे हैं। यदि वह अपने आपको सृष्टि का रचयिता ब्रह्म समझते हैं और जीवों के साथ शामिल होना नहीं चाहते तो इस मन्त्र को वेद से निकाल दें। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उसको नमस्कार की भेंट भी करते हैं, उसकी उपासना भी करते हैं पर अपने को कहते सृष्टि का रचयिता ब्रह्म ही हैं। 'छोटा मुंह बड़ी बात' वाली बात है। कहां अल्पज्ञ, अल्पशक्ति वाला, नाना प्रकार की योनियों में भटकने वाला, और दुःख सुख कर्मानुसार भोगने वाला जीव और कहां सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, आनन्दस्वरूप सृष्टि का रचयिता ब्रह्म ? यह उसकी बराबरी कर रहे हैं। जरा यह सारे ब्रह्म मिलकर पीपल के वृक्ष का एक बीज बना कर तो दिखायें। गेहूं की पैदावार को ज्यादा करदें ताकि लोग भूखे न मरें।

ऐ अहङ्कारी जीव ! अपने अन्दर से अहङ्कार की हवा को निकाल कर उस सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, आनन्दस्वरूप, कर्माध्यक्ष कर्म फल दाता, दयालु परमात्मा के आगे झुक जा, याचक बन कर उससे आत्म ज्ञान और आत्मिक बल को प्राप्त कर (वह आत्मदा, बलदा है) और प्राणीमात्र की निष्काम सेवा करता हुआ और योगाभ्यास से उपासना करता हुआ उसके समीप

जाकर उसके चरणों में गिर जा। वह दयालु माता आपको उठाकर अपनी आनन्दमय गोद में बिठाकर अपना आनन्दरूपी दूध पिला कर आपको शांत और आनन्दित कर देगी। यदि अहङ्कार की हवा में उछलता रहा तो जन्ममरण के बन्धन में पड़ा रहेगा। और नाना प्रकार की योनियों में भटकना पड़ेगा।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

यजु० ४०।३

भावार्थः—' आत्मा की आवाज के विपरीत काम करने वाले मर कर सूर्य (प्रकाश) रहित तम से आच्छादित योनियों को प्राप्त होते हैं।" प्रश्न होता है कि अपनी आत्मा की आवाज के विपरीत काम करके प्रकाश रहित योनियों में कौन जाते हैं? जड़ पदार्थ तो ऐसा नहीं कर सकते। यह तो चैतन्य जीव ही अपनी आत्मा को आवाज के अनुकूल या प्रतिकूल काम कर सकते हैं। जब यह कोई बुरा काम करने का विचार करते हैं तो इनके भीतर से इनकी अन्तर्यामी अन्तरात्मा की आवाज आती है कि ऐसा मत कर और उनके सम्मुख भीतर से भय, लज्जा और शंका उत्पन्न कर देती है। यदि वह इस को न सुनकर बुरा काम कर देते हैं तो आत्महनन के अपराध में इनको तुम से आच्छादित योनियों में भटकना पड़ताहै। फिर प्रश्न होता है कि क्या जीवात्मा से भिन्न और उससे महान् कोई और आत्मा भी है जो जीवों की अन्तर्यामी आत्मा होकर उनको बुरे काम करते समय भयभीत करके रोकती है और उनके अन्दर अनुत्साह और अप्रसन्नता पैदा करती है और अच्छा काम करते समय उनके अन्दर उत्साह और प्रसन्नता पैदा करती है? हां, वह महान् सर्वज्ञ आत्मा है परमात्मा। जैसा कि शतपथ ब्रा० १४। ५।३० में लिखा है: —

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

इसका अर्थ पहले लिखा गया है। इसमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि परमात्मा जीवात्मा का अन्तर्यामी आत्मा है जो इसके भीतर रह कर इसका नियमन करता है। नियम्य और नियन्ता दो हैं, दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है—एक है अल्पज्ञ जीवात्मा और एक है सर्वज्ञ परमात्मा। जो जीवात्मा परमात्मा के नियमों के अधीन है उसको आप ब्रह्म किस तरह कह सकते हैं?

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

गीता ६। १०

अर्थात्:—(यत+चित्त+आत्मा) जिस ने चित्त और आत्मा को यत (संयत नियन्त्रित) कर लिया है और निराशी (जिसने वासनाजन्य इच्छाओं का सर्वथा निराकरण कर दिया है) और जो धन संग्रह नहीं करता, निर्लोभ है ऐसा योगी अपनी आत्मा को परमात्मा से युक्त करे।"

इस श्लोक में युञ्जीत (युक्त करे) शब्द रहस्यपूर्ण है। युक्त होने के लिये दो का होना जरूरी है। एक वह जो युक्त होता है और एक जिससे युक्त हुआ जाता है। योगी अपनी आत्मा को युक्त करे—किस से युक्त करे? ब्रह्म से। योग नाम उस साधना का है जिसके द्वारा जीवात्मा परमात्मा से मिलता है। इस लिये ऐ जीव! तू योगाभ्यास द्वारा अपने आपको परमात्मा से युक्त कर दे ताकि उसके आनन्द से आनन्दित हो जाय।

अद्वैतवादियों के इस निराशा-जन्य सिद्धांत से निराश मत हो जाना कि जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ के बाद जब तुमको मोक्ष की प्राप्ति होगी तो उस समय तू भी शरीर के साथ समाप्त हो जायेगा। यह बात उनकी वेद शास्त्रों के विरुद्ध है। तू तो नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश से तुम्हारा नाश नहीं होता।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। क. उ. १। २। १८

तू मोक्ष काल में भी रहेगा और ब्रह्मके आनन्द को भोगता रहेगा जैसा कि वेदांत दर्शन ४। ४। २१ में लिखा है। जीव का अस्तित्व ब्रह्म से युक्त होने के बाद भी मोक्षावस्था में बना रहता है। मिश्री की डली के उदाहरण से यह समझ में आ जाता है। मिश्री की डली जो पानी से ज्यादा स्थूल है, इसमें से प्रकाश नहीं गुजर सकता। पानी में डालने से आवाज भी आयेगी। मगर थोड़ी देर पानी में रहने से पानी से मिल जाती है, तद्‌रूप हो जाती है, कठोरता खतम हो जाती है, अब इसमें से प्रकाश भी गुजर जाता है और पानी के साथ बहती भी है, देखने वाले को पानी ही दिखाई देता है परन्तु तद्‌रूप हो जाने पर भी मिश्री का अपना अस्तित्व बना रहता है। इसी प्रकार जीव जो सत्, चित् है जब इसका ब्रह्म से योग होता है तो यह भी ब्रह्म की तरह सत् चित् आनन्द हो जाता है याने तद्‌रूप हो जाता है परन्तु इसका अपना अस्तित्व बना रहता है। इसी लिये वह मोक्षकाल में ब्रह्म के आनन्द को भोगता है।

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये।

अर्थात् उसे जान कर मृत्यु को उलांघ जाता है। प्रश्न होता है कौन किस को जानकर मृत्यु को उलांघ जाता है? जब आपके मन्तव्य के अनुसार ब्रह्म के सिवा और कोई है ही

नहीं, तो क्या इसका अर्थ आप यह करेंगे कि ब्रह्म ब्रह्म को जानकर मृत्यु को उलांघ जाता है ? क्या ब्रह्म जन्ममरण के बन्धन में फंसा हुआ है ? जब जीव मृत्यु को उलांघ कर अमर हो जाता है तो फिर आपका यह कहना गलत हो जाता है कि अन्तःकरण के साथ जीव का भी नाश हो जाता है।

"मृत्योर्मे अमृतं गमय"।

यह प्रार्थना कौन कर रहा है और किस से कर रहा है? यह सिवाय चैतन्य जीव के और कौन हो सकता है ? जीव है तो अमर (स्वरूप से वह अमर है) परन्तु अपने कर्मों के फल के कारण वह जन्ममरण के बन्धन में फंसा हुआ है। वह परमात्मा से प्रार्थना कर रहा है कि मुझे इस जन्ममरण के बन्धन से छुड़ा कर अमृतत्व की प्राप्ति करा। वेद माता इसका उपाय भी जीव को बताती है कि:—

"तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति"।

(यजु० ३१। १८)

उस परमात्मा को जान कर ही जीव मृत्यु को अतिक्रमण करके अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है।

प्रार्थना और उसका उपाय दोनों मौजूद हैं पर अद्वैतवादी मोक्ष प्राप्ति केबाद जीव का अस्तित्व नहीं मानते और कहतेहैं कि शरीर के साथ जीव भी समाप्त हो जाता है। क्या जीव की प्रार्थना और वेद माता का उसके लिये उपाय दोनों निरर्थक हैं ? क्या जीव के जन्म-जन्मान्तरों का पुरुषार्थ इस लिये है कि जब ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करके उसके भोगने का समय आये तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाये ? नहीं, उस दयालु न्यायकारी के राज्य में ऐसा अन्धेर कभी नहीं हो सकता वेद शास्त्रों और वेदांत दर्शन में स्पष्ट लिखा है कि जीव अपने स्वाभाविक स्वरूप अमृतत्व को प्राप्त होकर मोक्षकाल में

ब्रह्मानन्द को भोगता है। जीव ब्रह्म की तरह अनादि अनन्त है (काल से)।

ब्रह्म जीव कैसे बन गया ?

अद्वैतवादी कहते हैं कि जीव है तो ब्रह्म, पर मायावश अपने को जीव समझ रहा है। जब उसको ज्ञान हो जाता है तो फिर वह अपने को ब्रह्म समझने लगता है। स्वामी शंकराचार्य कहते हैं जीव और ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध है—याने जीव ब्रह्म है और ब्रह्म जीव है। प्रश्न यदि जीव और ब्रह्म में तादात्म्य है और इन से भिन्न कोई वस्तु नहीं तो भ्रम, अविद्या या माया कैसे उत्पन्न हो गई और वह कौन से कारण थे जिन्होंने ब्रह्म को भ्रमयुक्त होकर जीव बन जाने के लिये बाधित किया ? स्वामी शंकराचार्य जी माया का अस्तित्व ही नहीं मानते। यदि माया है ही नहीं तो उसने ब्रह्म को जीव कैसे बना दिया। यह भ्रम क्यों हो गया कि मैं जीव हूँ ? मैं स्वयं अपने आपको ब्रह्म नहीं समझता हूं जीव समझता हूँ। आप कह सकते हैं कि यह आपका भ्रम है। होगा। इस से क्या ! पूछना तो यह है कि मुझे यह भ्रम हुआ कैसे ? अद्वैतवाद इस उलझन को सुलझा न सका। यदि अविद्या के कारण जीवभाव की कल्पनामात्र हो जाती है तो प्रश्न यह होता है कि कल्पना करने वाला कौन है। अविद्या तो कल्पना कर नहीं सकती क्योंकि जड़ है। जीव बने तो कल्पना करे। जब जीव बना ही नहीं तो कल्पना किसने की ? कल्पना करने के पश्चात् तो जीवभाव उत्पन्न होताहै। यदि कहो कि कल्पना करनेवाला ब्रह्म ही है तो ब्रह्म में अज्ञान आयेगा परन्तु ब्रह्म तो ज्ञानस्वरूप है वह "तमसः परस्तात्" अज्ञान अन्धकार से बिल्कुल परे है। इस उलझन को सुलझाने के लिये अल्पज्ञ चैतन्य जीव की सत्ता ब्रह्म से भिन्न माननी ही पड़ेगी।

यदि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य माना जाये तो फिर ब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती। उपासक कौन और उपास्य कौन? मैं अपना ही उपासक नहीं बन सकता। यदि जीव वस्तुतः ब्रह्म है ही तो वह किसकी उपासना करे और किस लिये करे? यदि मुझे रस्सी में सांप की भांति भ्रम हो गया है कि मैं जीव हूँ तो मैं किसकी उपासना करूं कि वह मुझे इस भ्रम से छुटकारा दे। क्योंकि मैं ही तो हूँ, अन्य कौन है?

स्वामी शंकराचार्य जी का मत है कि उपासना व्यवहार-दशा में की जाती है, परमार्थ दशा में नहीं। प्रश्न होता है यदि व्यवहार-दशा मिथ्या है तो उसके लिये (उपासना के मिथ्या व्यवहार के लिये) उपदेश ही क्यों दिया गया है? एक तरफ तो यह उपदेश दिया गया है कि तत्त्वज्ञानी बनो याने जो चीज जैसी हो उसको वैसी मानो और दूसरी तरफ यह कहा जाताहै कि उपासना के समय जीव अपने आपको उपासक और ब्रह्म को उपास्य समझकर उपासना करे क्योंकि दो के विना उपासना नहीं हो सकती। जब जीव और ब्रह्म की एक ही सत्ता है तो वह उपासना के समय दो मानकर झूठा व्यवहार क्यों करते हैं। यदि दोनों की सत्ता एक माने तो उपासना की कोई आवश्यकता नहीं रहती और यदि दो मानकर उपासना करें तो यह झूठा व्यवहार होगा। जब अद्वैतवादी जीव और ब्रह्म का तादात्म्य मानते हैं (याने जीव ब्रह्म और ब्रह्म जीव है) तो फिर व्यावहारिक याने झूठी उपासना क्यों और किस लिये करते हैं? क्या झूठे व्यवहार करने वालों को सत्य (ब्रह्म) की प्राप्ति हो जायेगी? इसलिये प्रार्थना है कि अपने आपको जीव समझकर, सच्चा उपासक बनकर अपने उपास्यदेव ब्रह्म की सच्ची उपासना करें ताकि मोक्ष को प्राप्त करके मोक्षकाल में ब्रह्मानन्द का भोग करके आनन्दित होते रहें। उसके दरबार

में भिखारी बनकर जाने से कुछ प्राप्त होगा।

अद्वैतवादी कहते हैं कि मोक्षावस्था में जीव का अस्तित्व नहीं रहता जैसे नदी समुद्र में मिल जाती है इसी तरह जीव का भी ब्रह्म में लय हो जाता है। इसके लिये वह मुण्डक उप० ३। २। ८ वाला वाक्य पेश करते हैं :—

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

अर्थात्—"जिस प्रकार नदियां नाम रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं वैसे ही विद्वान् अपने नाम और रूप को छोड़कर उत्तम से उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।" परन्तु इस वाक्य में अस्तित्व के नष्ट होने-का तो कथन है ही नहीं केवल नाम और रूप से मुक्त होने मात्र का कथन है। नाम और रूप तो शरीर का होता है जीव का नहीं। जब जीव शरीर को छोड़ देता है तो उसके साथ रंग रूप को भी छोड़ देता है। तो इस वाक्य का अभिप्राय है कि जीव रंग रूप वाले शरीर को छोड़कर परमात्मा से मिल जाता है, याने रंग रूप वाले शरीर से मुक्त होकर परमात्मा से युक्त हो जाता है। जैसे मिश्री पानी से मिलकर तद्रूप हो जाती है पर उसका अस्तित्व बना रहता है इसी प्रकार जीव मोक्षावस्था में ब्रह्म से मिलकर तद्रूप हो जाता है परन्तु उसका अपना अस्तित्व बना रहता है। यह ही है जीव का ब्रह्म में लय हो जाना।

हों दोऊ एक प्रतीत

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात् ।
मृत्योः पाह्योजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि ।।

यजु० १० । १५ ॥

तू (सोमस्य त्विषिः असि) सोम की कान्ति है चन्द्रमा की चांदनी है। चन्द्रमा की चांदनी जिस प्रकार सुमोहक और आह्लादक (प्रसन्न करने वाली) है उसी प्रकार तेरी सुन्दरता परम मोहिनी और परम आनन्ददायिनी है।

मेरे प्यारे सोम (चन्द्र) ! मेरा मन तेरी सुन्दरता पर मुग्ध हो रहा है, संसार के सारे सौन्दर्य समल और सविकार हैं। केवल तेरी ही मनोहारिणी सुन्दरता है जो नितान्त निर्मल और निर्विकार है। इसलिये जो एक बार भी तुझे एक टक देख लेता है वह त्रिगुणातीत और सर्वदा आनन्दी हो जाता है। प्रियतम ! काश मैं तव रूप हो जाऊं (मे त्विषिः) मेरी त्विषि (कान्ति) (तव इव) तेरी जैसी (भूयात्) हो जाये बस फिर तू और मैं दोनों एक रूप हो जायें। काला कोयला अग्नि में प्रविष्ट रहता हुआ अग्नि रूप बना रहता है। तो मैं भी सर्वात्मा तुझ में प्रविष्ट रहता हुआ तव रूप रहूं। इसमें आपत्ति क्या है (कठिनाई क्या है) ? दो ही तो रूप हैं - एक ब्रह्म रूप दूसरा माया रूप। माया के रूप में रूपित रहने से मृत्यु का बंधन है और ब्रह्मरूप से रूपित रहने में शाश्वत अमृतत्व है, तो सुन्दर देव "बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्" मैं मृत्यु के बन्धन से तो मुक्त हो जाऊं पर तुझ अमृत से युक्त हो जाऊं, ऐसी अनुकम्पा कर। अमरदेव ! मुझे (मृत्योः पाहि) मृत्यु से बचा ! माया की मरीचिका (मृगतृष्णा) से मेरी रक्षा कर। परमानन्द ! तू (ओजः असि, सहः असि, अमृतम् असि) ओज है, शक्ति है, अमृत है। मुझ में अपने ओज का संचार कर अपनी शक्ति का संचार कर। तेरे ओज से ओजित, तेरे सहः

से सहोपेत और तेरे अमृतत्व को पाकर मैं मृत्यु को परास्त करूं और मृत्युञ्जय हो जाऊं।

जीव इस मन्त्र की भावनाओं के साथ उपासक बनकर उस सर्वशक्तिमान्, आनन्द के भण्डार, परम पिता परमात्मा की शरण में पहुंचकर बड़ी नम्रता से अमृतत्व और उसके आनन्द की याचना करे। यदि उसकी कृपा हो गई तो उसको अमृतत्व, परम शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हो जायेगी। जैसा कि श्री कृष्ण महाराज ने भी गीता में अर्जुन को उपदेश दिया है।

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥"

गीता १८। ६२॥

ऐ अर्जुन! तू परमात्मा की ही शरण में सब भावनाओं को लेकर जा! उसी की कृपा से तुमको परम शान्ति और मोक्ष की प्राप्ति होगी।

कृष्ण महाराज ने अर्जुन को अल्पज्ञ और मोह में लिप्त जीव समझकर ही यह उपदेश दिया कि तू परमात्मा की शरण में जा। यदि वह उसको ब्रह्म समझते तो फिर ब्रह्म को ऐसे उपदेश देने की आवश्यकता न होती। कृष्ण महाराज भी जीव को ब्रह्म से भिन्न, अल्पज्ञ, अल्प शक्ति वाला और आनन्द का भिखारी समझते थे वरना अर्जुन को ऐसा उपदेश न देते। वैसे तो अद्वैतवादी महात्मा भी कहते तो हैं कि जीव ब्रह्म है पर मानते नहीं। यदि मानते तो फिर ब्रह्म को उपदेश करने के लिये स्थान-स्थान पर भ्रमण न करते और न स्वयं उपासना करते और न किसी को उपासना करने के लिये कहते क्योंकि ब्रह्म को न उपदेशों की आवश्यकता है और न उपासना करने की क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और आनन्द स्वरूप है। जो उपदेश देते हैं **और**

सुनते हैं और उपासना भी करते हैं और कर्मों का फल दुःख-सुख भी भोगते हैं वह जीव हैं उनको ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। इस मन्त्र में जीव ब्रह्म से प्रार्थना करता है—

(मृत्योः पाहि) कि मुझे मृत्यु से बचा। याने मुझे अमृतत्व प्रदान कर (जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ा), ताकि मैं अमृतत्व को प्राप्त करके मोक्ष अवस्था में पहुँच कर आनन्द को भोग सकूं।

यदि आपके मन्तव्य के अनुसार मोक्ष प्राप्त करके जीव का भी शरीर के साथ अन्त हो जाता तो ऐसी निरर्थक प्रार्थना को वेद में देने का क्या लाभ था? वेद की प्रार्थना कभी निरर्थक नहीं हो सकती। जीव को अपने पुरुषार्थ और परमात्मा की कृपा से अमृतत्व की प्राप्ति जरूर होती है और मोक्षावस्था में उसका अस्तित्व बना रहता है जबकि वह आनन्द को भोगता है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० १०।१२१।२

अर्थात्:—"जो (आत्मदा) आत्म ज्ञान का दाता (बलदा) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा (यस्य विश्वे देवा उपासते) जिसकी सब बिद्वान् लोग उपासना करते हैं। (यस्य प्रशिषं) और जिसका प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, (यस्यच्छायाऽमृतं) जिसका आश्रय ही मोक्षानन्द दायक है (यस्य मृत्युः) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) हम उस आनन्द स्वरूप, सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ॥"

इस मन्त्र में लिखा है (य आत्मदा) जो आत्मज्ञान देता है। प्रश्न होता है किस को आत्म ज्ञान देता है ? परमात्मा आत्म-ज्ञान उसको देता है जिसको अज्ञान के कारण आत्मा का (याने अपने आपका) ज्ञान नहीं, जो अपने आपको भूला हुआ है। वह कौन है जो अपने आपको भूला हुआ है ? क्या वह ब्रह्म है जो माया (अज्ञान) के कारण अपने आपको ब्रह्म की बजाय जीव समझ रहा है ? नहीं, वह ब्रह्म तो ज्ञान स्वरूप, सर्वज्ञ है वह अपने आपको कैसे भूल सकता है। तो फिर यह आत्म ज्ञान किस को देता है ? वह है ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला अज्ञानी जीव जो अज्ञानवश अपने आपको भूला हुआ है। यही कारण है कि कोई भी मनुष्य नहीं जानता कि वह शरीर से भिन्न एक चेतन्य आत्मा है जो इस शरीर के अन्दर हृदय में निवास करता है और शरीर और इन्द्रियां उसके उपकरण हैं जिनसे वह काम करता है। आंखों से देखता है, कान से सुनता है, नाक से सूंघता है, जिह्वा से स्वाद लेता है, त्वचा (चमड़ा) से स्पर्श करता है (छूता है), टांगों से चलता है, हाथों से काम करता है, मन से सङ्कल्प करता है, बुद्धि से ज्ञान प्राप्त करके विचार करताहै। विना इन उपकरणों के वह कुछ भी नहीं कर सकता (परमात्मा को इन उपकरणों की आवश्यकता नहीं)। जब तक जीव को आत्म ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती वह अपने आपको भूला रहता है। इस लिये परमात्मा जब सृष्टि रचकर जीवों को शरीर देकर संसार में भेजता है तो शुरु दुनियां में ही उनको आत्मज्ञान वेद द्वारा दे देता है इसीलिए परमात्मा को "आत्मदा" याने जीवों को आत्मज्ञान का दाता (देने वाला) कहा है। यदि ब्रह्म से भिन्न अज्ञानी जीवात्मा न होता तो ब्रह्म को आत्मदा न कहा जाता क्योंकि आत्मदा (आत्म ज्ञान के देने वाला) शब्द सार्थक तब ही हो सकता है जब आत्मज्ञान

को लेने वाला भी कोई हो। वह 'बलदा' भी है। जीवों को शारीरिक आत्मिक और सामाजिक बल की भी आवश्यकता है। यह बल भी वह परमात्मा ही देता है इसीलिये उसको बलदा (बल के देने वाला) भी कहा है।

फिर लिखा है "जिसकी सब विद्वान् लोग उपासना करते हैं।" प्रश्न होता है कि वह विद्वान् उपासक कौन है और उसकी उपासना करके क्या प्राप्त करना चाहते हैं? उसकी उपासना करने वाले जरूर कोई हैं। यदि न होते तो वेद के इस मन्त्र में यह शब्द ही न होते "जिसकी सब विद्वान् लोग उपासना करते हैं।" इससे यह तो निश्चय है कि कोई उपासक तो जरूर हैं। वह उपासक सिवाय चैतन्य जीवों के और कौन हो सकते हैं। क्या सब जीव उपासक होते हैं? नहीं।

वेद कहता है केवल विद्वान् जीव ही उपासक होते हैं जिनको आत्मज्ञान हो जाता है। अज्ञानी जीव जिनको अपना ज्ञान ही नहीं वह उपासना क्या करेंगे। यह विद्वान् जीव परमात्मा के शासन को मानते हैं उसके बताये हुए नियमों के अनुसार जीवन गुजारते हैं, उसकी आज्ञा पालन करने में तत्पर रहते है, उसकी उपासना करते हैं और उसकी अमृतरूपी छाया में रहते हैं और विना उपासना के उसकी अमृतरूपी छाया (आश्रय) से वंचित होना नहीं चाहते क्योंकि उसकी छाया (आश्रय) का न होना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है। इस लिये उसकी ही छाया (सहारा) को सबसे बड़ा सहारा समझते हैं। उसीके सहारे को पकड़ कर (कस्मै देवाय) उस आनन्द-स्वरूप परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करने के लिये ब्रह्म लोक में पहुँच जाते हैं। ओ३म् से श्रेष्ठ सहारा संसार में दूसरा नहीं है। यह (छाया) सहारा उनको मिलता है जो जीव उसकी आज्ञा का पालन करते हैं और उसकी उपासना करते हैं। इस

लिये उसके सहारे को समझकर इसको दृढ़ता से पकड़ लेना चाहिये। इसी सहारे से ही हम ब्रह्म लोकमें पहुंचकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर सकते हैं जो जीव की जीवन-यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम् एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।। कठोपनिषद्

ओं का सहारा ही जीव के लिये सब से बड़ा सहारा है। यही सबसे परम आश्रय है। इस सहारे को जानकर, इसको धारण करके केवल इस संसार में नहीं, ब्रह्म लोक में भी महिमा को प्राप्त होता है।

"य आत्मदा बलदा" इस मन्त्र में भी जीव और ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट मालूम हो रही है।

कहां तक लिखता चला जाऊं ! वेद के मन्त्रों से तो जीव और ब्रह्म की भिन्नता ही भिन्नता मालूम होती है।

प्रश्न—क्या बुद्धि और मन ब्रह्म हैं या ब्रह्म से भिन्न ? यदि कहो कि भिन्न हैं तो अद्वैतवाद की हानि होगी। यदि कहो कि ब्रह्म ही हैं तो फिर बुद्धि और मन की गलती माननी पड़ेगी। परन्तु परमात्मा तो सर्वज्ञ हैं वह गलती नहीं कर सकता। इस उलझन के सुलझाने का एक ही तरीका है कि वेद शास्त्रों के त्रैतवाद का सिद्धान्त मान लिया जाये। प्राकृतिक जड़ मन और बुद्धि जीवात्मा के कार्य करने के साधन (उपकरण) हैं। इनका दुरुपयोग करना जीव की गलती होगी और परमात्मा जो इसका कर्माध्यक्ष है वह जीव को उसकी गलती का दण्ड देगा। त्रैतवाद से यह उलझन शीघ्र ही सुलझ गई। जीव कर्त्ता और भोक्ता है, शरीर और दूसरे प्राकृतिक पदार्थ जीव के साधन हैं और ब्रह्म कर्माध्यक्ष है जो जीव को उसके कर्मों का यथायोग्य न्यायपूर्वक फल देता है।

प्रश्न—यदि ब्रह्म से भिन्न कोई और चेतन नहीं है तो भयभीत कौन होता है ? जो भयभीत होता है वह ब्रह्म नहीं हो सकता। वह हैं जीव। जो परमात्मा का सहारा पकड़ लेते हैं वह जीव निर्भय हो जाते हैं, जो जीव परमात्मा को भूलकर संसार के प्राकृतिक पदार्थों के मोह में फंस जाते हैं वह भय-भीत रहते हैं।

एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति

इसका अर्थ अद्वैतवादी करते हैं कि एक ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है— (एकं) एक (ब्रह्म) ब्रह्म है (द्वितीयः) दूसरा (न अस्ति) नहीं हैं। वेद भी यही कहता है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
स एष एक एकवृदेक एव॥

अथ० १३—४ (२) मन्त्र १६। १७। १८। २०॥

अर्थात्— वह ईश्वर, दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ नौ, दश नहीं। वह एक है, एक ही है।

"ब्रह्म एक ही है दो नहीं" यह अद्वैत तो ठीक ही है परन्तु यह कहना कि ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं, वेद शास्त्रों के सिद्धान्त के विरुद्ध है। जब दो अलग-अलग चैतन्य सत्तायें स्पष्ट सिद्ध हैं तो उनको एक मानने मात्र से क्या लाभ ?

जब "मैं" कहता हूँ कि परमात्मा है, मैंने उसको जान लिया है "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं" जब मैं ऐसा कहता हूं कि मैं उस महान् पुरुष (परमात्मा) को जानता हूं तो उसके जानने से पहले मुझे "मैं" का (याने अपना) ज्ञान होता है। यदि "मैं"

(जीव) न हूँ तो ब्रह्म को कौन जानेगा ? "मैं" न हूं तो दुनिया किस काम की ? मैं न हूँ तो ब्रह्म की उपासना कौन करे ? मैं न हूं तो जन्म मरण का चक्र कैसे चले ? मैं न हूं तो ब्रह्म कर्माध्यक्ष कैसे कहलाये ? मैं न हूँ तो वेद ज्ञान किसके लिये ? मैं न हूँ तो दयालु ब्रह्म की दया का पात्र कौन हो ? मैं न हूँ तो न्यायकारी ब्रह्म किस के कर्मों का न्याय करे ? मैं न हूँ तो जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति किस की हो ? "मैं" न हूं तो मोक्ष प्राप्ति के लिये साधना-चतुष्टय से सम्पन्न कौन हो ? परमात्मा की दुनिया में "मैं" (जीव) का होना आवश्यक है वरना ब्रह्म की रचना निरर्थक होती।

प्रश्न—ब्रह्म की क्या पहचान है ?

उत्तर—जो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और फिर प्रलय करता रहता है।

प्रश्न—अद्वैतवादी जो दावा करते हैं कि वह ब्रह्म हैं क्या वह ब्रह्म की तरह कीड़ी से लेकर हाथी पर्यन्त किसी एक शरीर को बना सकते हैं, या किसी अन्धे को नयी आंख बना कर दे सकते हैं ?

उत्तर—अपने आपको ब्रह्म कहना तो आसान है परन्तु उस जैसे काम करना इनके लिये असम्भव है। वह तो पीपल के वृक्ष का एक बीज तक नहीं बना सकते।

प्रश्न—तो फिर वह अपने आपको ब्रह्म क्यों कहते हैं ?

उत्तर—वह कहते हैं कि यह जो कुछ है सब स्वप्न है। वास्तव में है कुछ भी नहीं। यह अद्वैतवादी स्वप्न भी तो उसी स्वप्न में सम्मिलित(शामिल)हैं इसलिये उनका कहना कि'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूं यह भी स्वप्न मात्र है। वह स्वप्न के ब्रह्म हैं। वह स्वप्न में अपने आपको ब्रह्म समझ रहे हैं। जब उनका स्वप्न समाप्त होगा और आंख खुलेगी तो उनको मालूम होगा कि

वह तो अल्पज्ञ जीव हैं स्वप्न में ब्रह्म बने हुए थे। परमात्मा करे कि उनकी आंख जल्दी खुल जाये।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात्—जो बात आपको अपने लिये अच्छी नहीं लगती उसे दूसरों के लिये भी पसन्द न करो। प्रश्न होता है कि यह शिक्षा कौन कर रहा है और किस को दे रहा है? शिक्षा देने वाला ज्ञानी होगा और जिसको शिक्षा दी जा रही है वह अज्ञानी होगा। जो अज्ञानी है उसको ब्रह्म नहीं कह सकते। इसलिये ब्रह्म से भिन्न कोई अज्ञानी चेतन मानना ही पड़ता है। वह अज्ञानी चेतन है जीव।

संसार में तीन चीजें भिन्न २ सत्ता वाली स्पष्ट मालूम हो रही हैं। उनमें से एक तो है जड़ और दो हैं चेतन।

(१) जो जड़ तत्व है वह उपादान कारण है जिस पर एक महान् चेतन ने अपने पूर्ण ज्ञान, सामर्थ्य (शक्ति) और कारीगरी से पूर्ण संसार की रचना की है और इससे नाना प्रकार के पदार्थ और नाना प्रकार के शरीर बनाये हैं। गुणों की भिन्नता के कारण जड़ और चेतन की सत्ता भी भिन्न-भिन्न है। चेतन तत्व की तरह यह भी है तो नित्य, शाश्वत और पुरातन परन्तु चेतन तत्व की अपेक्षा यह गति, ज्ञान और और आनन्द शून्य है और चेतन की अपेक्षा हीन है। स्वयं कोई क्रिया भी नहीं कर सकता। उसमें क्रिया, चेष्टा गति का आधान चेतन ही करता है। इस जड़ तत्व को प्रकृति (माया) matter कहते हैं। यह जड़ तत्व (उपादान कारण) परमाणुओं का समूह है। इन परमाणुओं में मिलने और जुदा होने की सलाहियत (योग्यता) तो है परन्तु विना महान् चेतन के मिलाने के स्वयं दुनिया की शक्ल इख्यतार नहीं कर सकते। (२) दो चेतनों में से एक लघु

चेतन है जिसको जीवात्मा कहते हैं। यह भी नित्य शाश्वत और पुरातन है परन्तु जड़ प्रकृति की अपेक्षा चेतन है। इसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाया जाता है। यह अल्पज्ञ, अल्प शक्ति वाला, अच्छे और बुरे कर्मों का करने वाला, फल-स्वरूप अनेक योनियों में जाकर दुःख सुख के भोगने वाला है। महान् चेतन (ब्रह्म) के बनाये हुए पदार्थों को लेकर अपनी आवश्यकता की वस्तुयें तो बना सकता है परन्तु जो चीजें महान् चेतन (ब्रह्म) इस संसार में बनाता है यह नहीं बना सकता जैसे सोने के जेवर और लकड़ी का सामान तो बना सकता है पर सोना और लकड़ी नहीं बना सकता। इसमें आत्मिक याने, अपना और परमात्मा का ज्ञान नहीं होता और न ही इसमें आनन्द है। परमात्मा इसको आत्मिक ज्ञान और बल देता है (य आत्मदा बलदा) और शरीर देता है ज्ञान को समझने के लिये और काम करने के लिये। बिना शरीर के यह कुछ नहीं कर सकता। आंख के बिना देख नहीं सकता, बुद्धि के बिना सोच नहीं सकता, टांगों के बिना चल नहीं सकता। यह शरीर का मोहताज है। इसकी संसार में एक ही इच्छा होती है। वह है आनन्द की प्राप्ति। इसी की खोज में मारा मारा फिरता है। पहले तो वह प्रकृति के बने हुए पदार्थों में खोज करता है। वह तो आनन्द से शून्य हैं। इसलिये निराश होकर (तत्वज्ञान होने पर) उनको छोड़ देता है उनसे वैराग्य हो जाता है। फिर षट् सम्पत्ति से अपने आपको सम्पन्न करता और मुमुक्षु (मुक्ति की तीव्र इच्छा वाला) बन कर योगाभ्यास से जीवन-मरण के बंधन से मुक्त होकर ब्रह्म से युक्त हो जाता है और आनन्द को प्राप्त करता है।

(३) महान् चेतन है परम-आत्मा (ब्रह्म)। यह भी नित्य, शाश्वत और पुरातन है। जो सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप सृष्टि का रचयिता, प्रकृति तथा जीव का अधिष्ठाता है।

जीवों का कर्माध्यक्ष और कर्म फल दाता है । योग्य जीवों को जन्म मरण के बंधन से छुड़ाकर उनको मुक्त कर देता है । मोक्ष काल में उनको अपने आनन्द से आनन्दित करता रहता है । यह बिना शरीर के अपने सारे काम करता है ।

अब मनुष्य के शरीर पर विचार करें तो आपको प्रकृति, जीव और परमात्मा की भिन्नता स्पष्टतया नजर आयेगी । शरीर तो जड़ प्रकृति से बना हुआ है । इसमें कोई चेतन है जो आंख से देखता है, कान से सुनता है, जबान से बोलता है, टांग से चलता है, दिमाग से विचार करता है, बिना इन उपकरणों के वह कुछ कर ही नहीं सकता । जब तक वह शरीर में है शरीर उसकी चेतनता से चेतन मालूम होता है । जब वह शरीर को छोड़ जाता है चेतनता उसके साथ चली जाती है । अब शरीर न देखता है, न बोलता है न चलता है । बिना उस चेतन के अब यह शव कहाता है । यह चेतन, शरीर से काम लेने वाला था जीवात्मा । मृतक शरीर में यह नहीं होता इस लिये इसकी चेतनता मालूम नहीं होती । जीव की चेतनता तो मृतक शरीर में मालूम नहीं होती मगर एक महान् चेतन शक्ति जो जीव से भिन्न जीवित शरीर में भी और मृतक शरीर में भी नजर आती है वह है महान् चेतन (परमात्मा) जिसने इस शरीर को बनाया है । वह जिन्दा और मृतक शरीर दोनों में अपनी कारीगरी में नजर आ रहा है । लेकिन जीव केवल जिन्दा शरीर में ही नजर आता है जब वह शरीर से काम करता है । परन्तु परमात्मा तो जिन्दा शरीर में भी व्यापक होता है और मृतक शरीर में भी, मगर मृतक शरीर न देखता है न बोलता है । क्यों ? इसलिये कि शरीर जीव के इस्तेमाल के लिये है परमात्मा तो बिना शरीर के ही देखता है सब काम करता है । शरीर में दो चेतन, स्पष्ट दिखाई देते हैं । जिन्दा

शरीर में दोनों होते हैं मृतक शरीर में केवल ब्रह्म ही होता है जो मृतक शरीर की कारीगरी में भी नजर आता है क्योंकि यह शरीर इसी महान् चेतन (ब्रह्म) ने अपनी कारीगरी से बनाया है और कारीगर हमेशा अपनी कारीगरी में नजर आता है।

ओ३म् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

यजु० ३५ । १४ ॥

इस मन्त्र में भी प्रकृति, जीव और परमात्मा में भिन्नता स्पष्ट है। जीव, प्रकृति और परमात्मा तीन वस्तुएं संसार में हैं। इनमें जीव भोगने वाला है चाहे प्रकृति के सुख-दुःखों को भोगे या परमात्मा के आनन्द का रस लेवे। जब जीव सूर्य रूपी परमात्मा की ओर पीठ करता है (उससे विमुख हो जाता है) तो सम्पूर्ण अविद्यान्धकार उसके सामने रहता है। जब उसकी ओर मुख करता है तो तम पीछे चला जाता है। प्रकृति तमः है इसके भोग तमः हैं। जीव अविद्यान्धकार में अर्थात् प्रकृति की लीलाओं में बहुत जीवन बिता चुका है पर लाभ की अपेक्षा हानि हुई। अब उससे ऊबकर (तमसः परि) इस प्रकृति से जो पृथक् है उसको उदगन्म (उत् अगन्म) प्राप्त होऊं, यह उसकी इच्छा है। जीव वेद-ज्ञान के आधार पर सोचता है कि प्रकृति सत् है और "मैं" जीवात्मा सत् चित् हूँ और परमात्मा सत् चित् आनन्द है। मैं प्रकृति की उपासना क्यों करूं उसमें रखा क्या है! जो सत् उसमें है वह मेरे में भी है! वह उत्कृष्ट है तो मैं उत्कृष्टतर हूँ क्योंकि मुझमें सत् है ही और प्रकृति की अपेक्षा मैं चित् भी हूं। पर नहीं है मेरे अन्दर आनन्द। वह आनन्द है परमात्मा में जो सत् चित् आनन्दस्वरूप है "स्वर्य-स्य च केवलम्"—"आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्।"

अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है। अतः उस (स्वः) आनन्दस्वरूप को जो (उत्तरम्) प्रलय के बाद भी रहने वाला है, जो (देवं देवत्रा) प्रकाश करने वालों का भी प्रकाशक है, जो (सूर्यम्) चराचर का संचालक है, जो (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्ट सर्वोत्तम है, जो (ज्योति) स्वयं अपने ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित है, जिस का अपना स्वरूप ही ज्ञान है, ज्ञान का भण्डार है उसको (पश्यन्तः) साक्षात्कार करता हुआ (उदगन्म) (उद्+अगन्म) उत्कृष्ट श्रद्धा और सत्य से युक्त होकर उसके आनन्द को प्राप्त होऊं यह इच्छा है।

इस मन्त्र में दिखलाया है कि आनन्द का भिखारी चेतन जीव, निरानन्द जड़ प्रकृति से मुंह मोड़ कर आनन्द के भंडार परमात्मा की शरण में जा रहा है आनन्द को प्राप्त करने के लिये। इसमें प्रकृति, जीव और ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्। यजु० ३१। १८

यह "महान्तं" शब्द विचारणीय है। यह शब्द स्पष्ट बता रहा है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और भी पदार्थ हैं जो महान् तो हैं परन्तु ब्रह्म की अपेक्षा वह लघु हैं। प्रकृति एक महान् सत् पदार्थ है जिस से एक महान् ब्रह्माण्ड की रचना हुई है, परन्तु यह जड़ है। जीव इससे महान् है क्योंकि वह सत् चित् है और प्रकृति से बने हुए पदार्थों का स्वामी बन कर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उनका प्रयोग करता है। और योगाभ्यास द्वारा परमात्मा की उपासना करके सत् चित् से सादि सत् चित् आनन्द हो जाता है। परमात्मा इन दोनों से महान् है क्योंकि वह सत् चित् आनन्द है। जीव परमात्मा की उपासना करके सत् चित् आनन्द होता है इसलिये इसको सादि सत् चित् आनन्द कहते हैं क्योंकि यह होता है परन्तु ब्रह्म तो अनादि काल से सत् चित् आनन्द है। जीव सादि सत् चित्

आनन्द तो हो सकता है पर परमात्मा की तरह सृष्टि का रचयिता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक नहीं हो सकता इस लिये परमात्मा को "महान्तं" याने सब से महान् कहा गया है। यदि एक ही ब्रह्म होता और उससे छोटा कोई न होता तो उसको महान्तं कहना सार्थक न होता।

तीन प्रश्न

कोई भी चीज बनाई जाये उस पर तीन प्रश्न होते हैं: —

(१) किसने बनाई है ? (२) किससे बनाई है ?

(३) किसके लिये बनाई है ? अब प्रश्न होता है कि—

(१) संसार किसने बनाया है ? परमात्मा ने ?

(२) किस उपादान कारण से बनाया है ? प्रकृति से।

(३) किस के लिये बनाया है ? जीवात्मा की उन्नति के लिये।

इस पर एक अद्वैतवादी प्रश्न करता है—क्या ब्रह्म ने अपने में से जगत् को उत्पन्न नहीं किया जैसे मकड़ी अपने में से जाला बनाती है ? दूसरे शब्दों में क्या ब्रह्म जगत् का "निमित्तोपादान कारण" नहीं हो सकता?

उत्तर—मकड़ी में एक जीव है और एक उसका शरीर। मकड़ी का शरीर जालेका उपादानकारण है और जीव निमित्त कारण है परन्तु कहने में हम कह देते हैं कि मकड़ी अपने अन्दर से ही जाला बनाती है।

मकड़ी शब्द जीव+शरीर के लिये है। वास्तव में उपादान कारण मकड़ी का शरीर है और निमित्तकारण मकड़ी का जीव है फिर भी हम मकड़ी को जाले का निमित्तोपादानकारण कह देते हैं। इसी प्रकार जब परमात्मा को जगत् का निमित्तोपादान कारण कहते हैं तो यहां भी वास्तव में दो वस्तुएं हैं

एक प्रकृति उपादान कारण और एक परमात्मा निमित्त कारण। आत्मा का अर्थ है "व्यापक" और व्यापक शब्द विना व्याप्य के सार्थक नहीं हो सकता।

चेतन जीवात्मा शरीर में व्यापक होता है। इसलिये शरीर उसका व्याप्य है। मकड़ी का जीवात्मा अपने व्याप्य (शरीर) से जाला बनाता है। परम-आत्मा तमाम प्रकृति में व्यापक है इसलिये प्रकृति उसकी व्याप्य है। इनका व्यापक व्याप्य का सम्बन्ध है। यह एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। व्याप्य प्रकृति से संयुक्त परमात्मा को जगत् के दोनों कारण(निमित्तो-पादान) कह सकते हैं परन्तु जब हम गौर से विचार करते हैं तो मालूम होता है कि वास्तव में जड़ प्रकृति (व्याप्य) उपादान कारण है और चेतन (व्यापक) परमात्मा निमित्त कारण है।

सारांश यह है कि जैसे मकड़ी का जाला दो चीजों—जड़ शरीर उपादान कारण और चेतन जीव निमित्तकारण—से बनता है इसी प्रकार जगत् दो चीजों (व्याप्य जड़ प्रकृति उपादान कारण और व्यापक चेतन परम आत्मा निमित्तकारण) से बनता है। परमात्मा के साथ उसका (व्याप्य) प्रकृति हमेशा रहती है।

सांख्य उपादान कारण का निरूपण करता है और वेदांत निमित्तकारण का उपादानकारण परतन्त्र है निमित्तकारण का इसलिये सांख्य दर्शन और वेदांत को एक साथ पढ़ना चाहिये। वह एक दूसरे के विरोधी नहीं, समर्थक हैं।

परमात्मा को जगत् का उपादान कारण इसलिये भी नहीं कह सकते क्योंकि कारण के गुण कार्य में आया करते हैं। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप, आनन्द स्वरूप और चेतन है, प्रकृति ज्ञान और आनन्द शून्य है। और जड़त्व और सत्, रज, तम, गुण

जो ब्रह्म में नहीं हैं वह इस में कहां से आ गये ? यदि यह गुण ब्रह्म के नहीं तो इन सत्, रजः, तम गुणों वाली जड़ प्रकृति की सत्ता ब्रह्म से भिन्न माननी पड़ेगी । कारण से कार्य का विलक्षण होना युक्तियुक्त नहीं है। इस लिये चेतन ब्रह्म को अचेतन जगत् का उपादान कारण नहीं मानना चाहिये।

यदि फिर भी कोई इस बात पर हठ करे कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई पदार्थ है ही नहीं, ब्रह्म ने अपने में से ही जगत् को उत्पन्न किया है तो इसका मतलब यह होगा कि ब्रह्म स्वयं ही अपने में से संसार का फन्दा बना कर आप ही इसमें मकड़ी की तरह अपने बनाये हुए जाल में फंस गया । यह कोई युक्तियुक्त बात नहीं। कोई बुद्धिमान् इसको नहीं मानेगा। वास्तविक बात तो यही है कि ब्रह्म, जड़ प्रकृति से जगत् की रचना करता है और अज्ञानी जीव इसमें फंस जाता है यदि इसका झुकाव प्रकृति की ओर हो और जन्ममरण के बन्धन में बन्धा रहता है। यदि ईश्वर के ज्ञान के प्रकाश से ज्ञानी होकर इसका झुकाव ईश्वर की ओर हो जाये तो वह जन्ममरण के बन्धन से छूटकर मोक्षानन्द को प्राप्त करता है।

विवेक ज्ञान के अनुसार चेतन आत्मा जड़ शरीर(अनात्मा) से भिन्न है। यह तो सब विवेकी अद्वैतवादी महात्मा भी मानते हैं। जब "आत्मा" और "अनात्मा" भिन्न-भिन्न गुणों वाले दो भिन्न-भिन्न पदार्थ मानते हैं तो फिर उनका यह कहना कि एक ब्रह्म ही ब्रह्म है उससे भिन्न और कुछ है ही नहीं—निरर्थक हो जाता है। जब दो का होना मान रहे हैं तो अद्वैतवाद कहां रहा ? एक है अनात्मा (प्रकृति) और एक है आत्मा। जब आत्मा की छानबीन करते हैं तो मालूम होता है कि आत्मा भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार दो हैं एक है अल्पज्ञ अल्प शक्ति वाला, पाप पुण्य कर्मों का कर्ता और फलस्वरूप दुःख-

सुख का भोक्ता, जन्ममरण के चक्र में बन्धा हुआ, एकदेशी, आनन्द का भिखारी जीवात्मा। दूसरा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, जीव के कर्मों का कर्माध्यक्ष, कर्मों का फल दाता, आनन्द का भण्डार, बन्धनरहित,योग-अभ्यासी जीवों को जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करके उनको मोक्षकाल में मोक्षानन्द देने वाला परमात्मा है। जीवात्मा शरीर की आत्मा है और परमात्मा तमाम ब्रह्मांड की आत्मा है। परमात्मा सूक्ष्म-अति-सूक्ष्म होने के कारण जीवात्मा में भी व्यापक होकर उसका अन्तर्यामी अन्तरात्मा है। हृदय में व्याप्य-व्यापक होकर दोनों आत्मा (आत्मानौ) निवास करते हैं।

इस तरह, एक जड़ (अनात्मा) प्रकृति और दो आत्मा (जीव और परमात्मा), तीन अनादि भिन्न-भिन्न गुण, कर्म, स्वभाव वाले पदार्थ हैं। यही वेद शास्त्रों का त्रैतवाद है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। कठोपनिषद् ५-१२

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ क० उ०-५-१३

अर्थ—(एकः) एक (वशी) सब को वश में रखने वाला (सर्वभूतान्तरात्मा) सब भूतों का अन्तर्यामी आत्मा है (यः) जो (एकं, रूपं) एक रूप वाली (प्रकृति) को (बहुधा) बहुत प्रकार का (करोति) करता है (ये) जो (धीराः) धीर पुरुष (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित (परमात्मा को) (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उनको (शाश्वतम्) चिरकाल

तक रहने वाला (सुखम्) सुख (प्राप्त होता है) (इतरेषाम् न) अन्यों को नहीं ॥१२॥

(नित्यानान्) नित्य [पदार्थों] में (नित्यः) नित्य (चेतनानाम) चेतनों में (चेतनः) चेतन (बहूनाम्) बहुतों में (एकः) एक है (यः) जो [जीवों के प्रति] (कामान्) कर्मफलों को (विदधाति) विधान करता है (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित (परमात्मा को) (ये) जो (धीराः) ध्यान शील (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उनको (शाश्वती) चिरस्थायिनी (शान्तिः) शान्ति प्राप्त होती है (इतरेषाम् न) अन्यों को नहीं ॥१३॥

व्याख्या—उपनिषद् के इन वाक्यों में ईश्वर के सगुणों और उपासना का वर्णन है। वह ईश्वर एक है, सब को वश में रखने वाला और समस्त भूतों में (व्यापक होने के नाते) मौजूद है (आत्मा के अर्थ ही हैं व्यापक होना) और एक प्रकृति से जगत् के असंख्य रूप रंगों वाले पदार्थ बना देता है। नित्यों का नित्य और चेतनों का चेतन है। जब मुमुक्षु जीव परमात्मा के इन गुणों को अपने में धारण कर लेता है और हृदय में अन्तर्मुखी होकर अपने में स्थित परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तब उसे चिरकाल तक रहने वाला सुख (आनन्द) और शान्ति प्राप्त होती है।

उपनिषद् के इन वाक्यों में प्रकृति, जीव और परमात्मा की भिन्न-भिन्न सत्ता मालूम होती है। लिखा है सब को वश में रखनेवाला और सबका अन्तर्यामी आत्मा है। वह सब क्या हैं? वह हैं अनेक पदार्थ जो प्रकृति के बने हुएहैं और अनेक जीव। सबके अन्दर व्यापक होकर सबको वशमें रखनेवाला परमात्मा क्या हुआ है। यदि प्रकृति न होती तो यह अनेक रंग रूप वाले पदार्थ कैसे बनाता ? जैसे एक रूप वाली मिट्टी से कुम्हार अनेक रूप रंग वाले बरतन बना देता है और उन बरतनों में

उनका उपादान करण "मिट्टी" स्पष्ट दिखाई देता है, इसी तरह परमात्मा एक रूप वाली जड़ प्रकृति से अनेक रंग रूप वाले जड़ पदार्थ बना देता है और उन पदार्थों में उनका उपादान कारण—"जड़ प्रकृति" स्पष्ट दिखाई देता है। परमात्मा कारीगर है और कारीगर हमेशा अपने ज्ञान और सामर्थ्य से किसी चीज पर कारीगरी करता है। परमात्मा कारीगर ने जड़ प्रकृति पर अपनी कारीगरी करके बहुत प्रकार के रंग-रूप वाले पदार्थ बना दिये हैं।

जड़ प्रकृति (उपादान कारण) की सत्ता चेतन परमात्मा (निमित्त करण) से स्पष्टतया भिन्न दिखाई दे रही है। यह जो इन वाक्यों में लिखा है कि "नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन, बहुतों में एक है" यह परमात्मा की महानता को जाहिर करता है। जैसे जब हम कहते हैं कि यह पहलवानों में पहलवान है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि यह सबसे बड़ा पहलवान है। नित्य पदार्थ तीन माने गये हैं--प्रकृति, जीव और ब्रह्म—इन तीनों नित्यों में से परमात्मा नित्य है याने वह तीन नित्य पदार्थों में से सब से बड़ा नित्य पदार्थ है। चेतन दो हैं—जीव और ब्रह्म—इन चेतनों में चेतन परमात्मा है याने बड़ा चेतन परमात्मा है। यह जो लिखा है "बहुतों में एक हैं" इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और भी बहुत हैं पर ब्रह्म सब से बड़ा है। फिर इन वाक्यों में परमात्मा की स्थिति जीवात्मा में बताई है याने वह जीवात्मा का अन्तर्यामी अन्तरात्मा है। और लिखा है कि जब मुमुक्षु जीव (मोक्ष की तीव्र इच्छा वाला) हृदय में अन्तर्मुखी होकर अपने में स्थित परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तब उसे चिरकाल तक रहने वाला सुख (आनन्द) और शान्ति प्राप्त होती है। इससे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि

मोक्ष काल में जीव का अपना अस्तित्व ब्रह्म से भिन्न बटा रहता है जबकि वह प्राप्त किये हुए आनन्द को चिरकाल तक भोगता रहता है। यह वाक्य आपके मन्तव्य के विरुद्ध है क्योंकि आपका ख्याल है कि मोक्ष प्राप्त करके अन्तःकरण के साथ जीव का भी अन्त हो जाता है।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्।
यम् कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

अथर्व० ४-३०-३

अर्थात्—(देवानाम् उत मानुषाणाम् इदं जुष्टम् अहं स्वयं एव वदामि) देवों और मनुष्यों के ग्रहण करने योग्य इस उपदेश को मैं स्वयं कहता हूँ, उपदेश करता हूँ (यम् कामये) जिस जिस को मैं क्रमानुसार चाहता हूँ (तं तं उग्रम्) उस उसको (उग्र) बलवान् (तं ब्रह्माणम्) उसको ब्रह्मा चारों वेदों का ज्ञानवान् (तं ऋषिम्) उसको मन्त्र द्रष्टा ऋषि (तं सुमेधाम् कृणोमि) उसको सुमेधा-धारणावती बुद्धि से युक्त करता हूँ।

इस मन्त्र में परमात्मा स्वयं जिनको उपदेश कर रहे हैं क्या उनकी चेतन सत्ता परमात्मा से भिन्न होगी या न? यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई चेतन सत्ता न मानी जाये तो ब्रह्म का यह उपदेश करना उन्मत्तों (पागलों) वाला काम होगा। उसके सिवा और है तो कोई नहीं और वह कह रहा है जिस जिस को मैं चाहता हूं उस उसको मैं बलवान्, चारों वेदों का ज्ञानवान्, ऋषि और सुमेधा से युक्त करता हूं।" यह बात तो ऐसे है जैसे एक गुरु उपदेश कर रहा था 'मेरे प्यारे विद्यार्थियो यदि तुम मेरी बातों को ध्यान से सुनोगे तो तुम उच्च कोटि के मनुष्य बन जाओगे।" परन्तु सुनने वाला विद्यार्थी एक भी मौजूद न था। आप ऐसे गुरु को पागल कहेंगे

कि न ? जरूर कहेंगे। इसी तरह आपके सिद्धांत के अनुसार ब्रह्म को भी उन्मत्त कहना पड़ेगा।

यदि ब्रह्म से अतिरिक्त चेतन जीवों की सत्ता को भी मान लिया जाता तो ब्रह्म का यह उपदेश भी सार्थक हो जाता और उसको उन्मत्त (पागल) कहना न पड़ता। इसलिये नम्रता पूर्वक निवेदन है कि आप अपने अद्वैतवाद के सिद्धांत पर बड़ी गम्भीरता से विचार करें। ब्रह्म अपने गुण कर्म और स्वभाव से अद्वैत है याने अद्वितीय है। उसके बराबर या उससे बड़ा कोई नहीं, यह तो ठीक है; परन्तु यह कहना कि ब्रह्म के अतिरिक्त और है ही कुछ नहीं, ठीक मालूम नहीं होता। इसको न तो प्रमाणों से और न युक्तियों से सिद्ध किया जा सकता है। वेदों, उपनिषदों, ब्रह्म सूत्र आदि की शिक्षा के अनुसार प्रकृति, जीव और ब्रह्म की तीन पृथक् पृथक् अनादि सत्तायें हैं जो युक्ति-युक्त हैं। पृथक् पृथक् मानने से कोई शंका पैदा नहीं होती। परन्तु आपके अद्वैतवाद के सिद्धांत के मानने से बड़ी शङ्काएं पैदा हो जाती हैं। जिनका कोई समाधान नहीं कर सकता।

कहते हैं ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं और उसने जो जगत् की रचना की है यह स्वप्न की तरह झूठी है। प्रश्न होता है कि उसने यह झूठी रचना किसको धोखा देने के लिये रची है (झूठी चीज धोखा देने के लिये ही होती है)? यही कहना पड़ेगा कि ज्ञानस्वरूप आनन्द स्वरूप ब्रह्म ने केवल अपने आपको धोखा देने के लिये अपने आपको भ्रम में डालने के लिये यह सब माया का झूठा खेल रचा है. क्योंकि आपके मत के अनुसार और कोई है ही नहीं जिसको धोखा हो।

सच तो यह है कि जगत् की रचना न झूठी है न खराब है। यह तो जीव की उन्नति के लिये रची गई है। इसकी

रचना से ब्रह्म के स्वाभाविक गुण, ज्ञान, बल, क्रिया, दया और न्याय भी सार्थक हो जाते हैं और जीव, ईश्वर के ज्ञान और अपने पुरुषार्थ से अपनी यात्रा को पूरी करके ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है एक दीर्घकाल के लिये जो कि इसकी यात्रा का लक्ष्य है। यह पूर्ण जगत् ईश्वर ने माया (प्रकृति) से बनाया है। जीव की यात्रा को पूर्ण करने के लिये उसको सब जरूरी प्राकृतिक साधन और अपना ज्ञान दे दिया। इन प्राकृतिक चीजों को साधन मान कर इनका उपयोग करना हमारा हक है। परन्तु जो ब्रह्म की दी हुई चीजों को अपना समझ कर उनसे ममता जोड़ लेते हैं वह माया में फस जाते हैं और ब्रह्म से दूर हो जाते हैं और दुःख उठाते हैं और संसार को छोड़ने का जब समय आता है उस समय मौत की शय्या पर बहुत दुःखी होते हैं।

इसलिये माया का दुरुपयोग खराब है, माया का कोई दोष नहीं। एक चाकू से डाक्टर औपरेशन करता है, कातल उसी चाकू से कतल करता है। चाकूका दोष नहीं, न चाकू खराब है, चाकू का दुरुपयोग खराब है। इस तरह माया का कोई दोष नहीं, माया में लिप्त होना खराब है। माया न झूठी है न खराब है। सर्वज्ञ ब्रह्म की रचना कैसे झूठी और खराब हो सकती है? यह माया के पदार्थ चूंकि अवयवी (मुरक्कब) हैं इसलिये नाशवान् तो हैं पर झूठ नहीं। यह तो जीव की यात्रा के साधन हैं। इनके बिना तो जीव की यात्रा ही पूर्ण नहीं हो सकती। इसलिये इन माया के साधनों (पदार्थों) को झूठा (स्वप्न मात्र) कहना ठीक नहीं। इनका जीवन-यात्रा के लिये सदुपयोग करना चाहिये। यह जड़ माया के जड़ पदार्थ ब्रह्म नहीं हैं। यह उसका ऐश्वर्य हैं इसीलिये ब्रह्म को ऐश्वर्यवान् कहते हैं। जीव को चाहिये कि ब्रह्म के दिये हुए

ऐश्वर्य और ज्ञान से लाभ उठा कर अपनी जीवन-यात्रा को सफल करें। इसकी जीवन यात्रा का लक्ष्य है जीवन-मरण के बंधन से मुक्त होकर मोक्ष काल में ब्रह्मानन्द को प्राप्त करना। यह लक्ष्य अद्वैतवादियों और द्वैतवादियों का एक ही है और इसकी प्राप्ति के लिये अद्वैतवादियों को भी द्वैतवादियों की तरह शरीर के रथ को स्वस्थ रखने के लिये संसार के पदार्थों का सदुपयोग भी करना पड़ता है और साधना चतुष्टय से सम्पन्न होकर उपास्यदेव ब्रह्म का उपासक बनकर उसकी उपासना भी करनी पड़ती है। जब अपने आपको (अहं ब्रह्मास्मि) कहकर भी करना वही कुछ पड़ता है जो द्वैतवादियों के अल्पज्ञ जीवों को करना पड़ता है तो फिर जीव होकर अपने आपको केवल ब्रह्ममात्र कहने से क्या लाभ हुआ? ब्रह्म होकर जीवों की तरह ब्रह्म की उपासना क्यों करते हैं? कहते तो हैं अपने आपको ब्रह्म, पर व्यवहार करते हैं जीवों की तरह। या तो उनका यह "ब्रह्म की उपासना का व्यवहार झूठा है या अपने आपको ब्रह्म कहना झूठा है। वास्तव में उनका अपने आपको ब्रह्म कहना झूठा है (उनका भ्रम है) क्योंकि यदि वह सचमुच सर्वज्ञ, ज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक ब्रह्म होते तो वह कभी ब्रह्म की उपासना न करते। क्योंकि आनन्दस्वरूप आनन्द के भण्डार तो हैं ही फिर आनन्द को प्राप्त करने के लिये आनन्द स्वरूप ब्रह्म को आनन्द स्वरूप ब्रह्म (याने अपने आप) की उपासना करने की क्या आवश्यकता रह जाती है? मैं तो आनन्द स्वरूप ब्रह्म हूं फिर उपासना किस की? यदि ब्रह्म से उसका आनन्द लेना हैं तो अल्पज्ञ, आनन्द का भिखारी जीव ही बन कर उसके दरबार में जाओ तो आनन्द मिलेगा। यदि अल्पज्ञ, जीव होकर अपने आपको ब्रह्म कह कर उसके

दरबार में हाजिर होंगे, तो आनन्द तो नहीं मिलेगा बल्कि अपराधी ठहराये जाओगे। जैसे एक याचक(भीख मांगने वाला) प्रधान मन्त्री के पास जाता है कुछ मांगने के लिए और अपना परिचय देता है कि मैं भारत का प्रधान मन्त्री हूं आपसे भिक्षा मांगने आया हूं। तो उसको भिक्षा तो मिलेगी नहीं बल्कि उसको इस अपराध में पकड़ कर दण्ड दिया जायेगा कि उसने अपने आपको भारत का प्रधान मन्त्री क्यों कहा है ! इसी तरह जीव होकर अपने आपको ब्रह्म कहना भी अपराध है दण्ड का भागी बनना है। इसलिये हमको आजिज होकर, विनीत होकर दीन होकर उस दयालुके पास जाना चाहिये—आनन्द का भिखारी बनकर उस आनन्द के भण्डार, आनन्द के दाता के पास जाना चाहिये, सुपुत्र बनकर पैत्र्य सम्पत्ति (आनन्द) प्राप्त करने के लिये उस परमपिता के चरणों में उपस्थित होना चाहिये—सुदामा बनकर कृष्णरूपी मित्र परमात्मा के दरबार में हाजिर होना चाहिये—पत्नी बनकर अपने आपको उस प्रजापति के समर्पण कर देना चाहिये—शिष्य बन कर अपने आप को समिधा बना कर उस परम गुरु (ब्रह्माग्नि) में डाल देना चाहिये-भक्त बनकर उस भगवान् की, उपासक बनकर उस उपास्य देव की, साधक बनकर उस साध्य की, स्तोता बनकर उस स्तुत्य की, प्रेमी बनकर उस प्रियतम की, ध्याता बन कर उस ध्येय की, पथिक बनकर उस पथ प्रदर्शक की, सेवक बनकर उस स्वामी की, मुमुक्षु बनकर उस मोक्ष दाता की, लघु बनकर उस महान्, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की कल्याणकारी शरण में उसको इस प्रकार नमस्कार करते हुए:—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठिति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ (अथर्व वेद)

गिर जाना चाहिये। वह दयालु परमात्मा माता की तरह अपने प्यारे पुत्र जीवों को अपने चरणों से उठाकर अपनी आनन्दमय गोद में बिठाकर अपना आनन्दरूपी दूध पिलाकर आनन्दित कर देता है।

यदि उसके आनन्द से आनन्दित होना है तो उसके पास आनन्द का भिखारी जीव बन कर जाओ। यदि ब्रह्म बनकर जाओगे तो आनन्द से भी वंचित हो जाओगे और अपराधी भी हो जाओगे।

यह अहंकार मनुष्य को बहुत खराब करता है।

जब हम इसका दुरुपयोग करते हैं। जब मनुष्य में अहंकार की हवा भर जाती है तो वह अपने आपको सब मनुष्यों से बड़ा समझने लगाता है इसका परिणाम यह होता है कि वह हवा से भरे हुए फुटबाल की तरह सब ओर से ठुकराया जाता है। जब उसका अहंकार हद से ज्यादा बढ़ जाता है तो वह अपने आपको सृष्टि का रचयिता ब्रह्म समझ लेता है। फलस्वरूप परमात्मा की नजरों से भी गिर जाता है। अहंकार मिला तो इसलिये था कि जीव अपने आपको पहिचान सके कि "मैं" कौन हूं। जब वह तत्व ज्ञान से इस निर्णय पर पहुंच जाता है कि वह जड़ शरीर से भिन्न एक चेतन आत्मा है और इस शरीर के भीतर हिरण्मय (आनन्दमय) कोष में निवास करता है और सब शरीर की सम्पत्ति (इन्द्रियां, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, प्राण) का स्वामी है तो उस समय कहता है:—

अहम् इन्द्रो न पराजिग्य इद् धनं, न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन ॥ (ऋ० १०।४८।५)

मैं इन्द्र हूँ इन्द्रियों का स्वामी हूँ। मैं कभी हराया नहीं जा सकता। प्रकृति से मेरी लड़ाई ठनी है। प्रकृति मेरे ऐश्वर्य को छीनना चाहती है पर मैं प्रत्येक लड़ाई में विजयी होता हूँ।

क्यों न हो ? क्योंकि सब दुनिया को खाने वाली मौत भी मेरे सामने नहीं ठहर सकती। मैं अमर आत्मा हूँ।

सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, ब्रह्माण्ड का रचयिता परमात्मा मेरा सखा है जो मेरी अन्तरात्मा होकर हर समय मेरे अङ्ग-सङ्ग है। उसका दावा है कि "श्रे सख्ये न रिषाथन" उसके मित्र का संसार में कोई नाश नहीं कर सकता।

तत्त्वज्ञानी जीव की भावना तो ऐसी होती है वह अपने आपको इन्द्रियों का स्वामी इन्द्र (जीवात्मा) कहता है परन्तु जब तमस् वृत्ति वाला हो जाता है तो अज्ञान-वश अपने अहंकार का दुरुपयोग करता है और अपने आपको "अहम् ब्रह्मास्मि" "मैं ही ब्रह्म हूं" कहना शुरु कर देता है। उस समय वह आनन्दस्वरूप परमात्मा की करुणामय दृष्टि से दूर हो जाता है। जो जीव अपने आपको ब्रह्म का अंश या ब्रह्म न समझकर, अपने आपको ब्रह्म के अंश के बरा-बर बहुत छोटा समझ कर आनन्द का भिखारी बनकर योगाभ्यास से उसकी उपासना करते हैं वही जन्ममरण के बन्धन से छूटकर मोक्षानन्द को प्राप्त होते हैं।

पूज्य स्वामी जी! जब जीव और ब्रह्म की दो भिन्न-भिन्न अनादि सत्ताएं स्पष्ट दिखाई देती हैं तो फिर दो अलग-अलग सत्ताओं को एक मानने मात्र से क्या लाभ ? जब कि मानने में कोई हानि नहीं, लाभ ही लाभ है। दो मानने से उपासना भी सच्ची होगी, व्यवहारिक याने झूठी न होगी। (जीव और ब्रह्म का तादात्म्य मानना याने दोनों की एक ही सत्ता मानना और फिर उपासना के व्यवहार के समय दोनों को भिन्न-भिन्न मानकर उपासक और उपास्यदेव बनकर उपासना करना झूठा व्यवहार होगा और उपासना भी झूठी होगी और झूठी उपासना का फल भी झूठा होगा।)और अद्वैत-

बाद जिन शंकाओं का समाधान नहीं कर सकता वह शंकाएं भी समाप्त हो जायेंगी ।

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के आखरी मन्त्र में परमात्मा अपना परिचय दे रहे हैं ।

"अहं ओ३म् खं ब्रह्म ।"

मैं ओ३म् नाम वाला (याने सब का रक्षक) खम् (सर्वत्र व्यापक) ब्रह्म (सब से बड़ा हूँ) । यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और चेतन सत्ता वाले न होते तो परमात्मा को अपना परिचय देने की कोई आवश्यकता न होती । अपने आपको सबका रक्षक कहा है । वह किन का रक्षक है ? तमाम शरीरधारी जीवों का । फिर अपने आपको सबसे बड़ा कहा है वह किन से बड़ा है ? वह ब्रह्माण्ड और तमाम जीवों से बड़ा है । फिर अपने को सर्वत्र व्यापक कहा है । वह किस में व्यापक है ? तमाम ब्रह्माण्ड के पदार्थों और जीवों की अन्तरात्मा होकर सब में व्यापक है । अब भी यदि कोई जीव और ब्रह्म की भिन्नता को न माने तो उसकी मरजी क्योंकि जीव स्वतन्त्र है—माने न,माने उल्टा माने,यह उसकी इच्छा है। पर गलत मानकर जब गलती करता है तो उसका फल उसको भुगतना पड़ता है क्योंकि जीव फल भोगने में परतन्त्र है । वह भले ही कहता रहे कि मैं ब्रह्म हूँ, कोई नहीं सुनेगा, इस को फल भुगतना ही पड़ेगा । जीव तो ईश्वर के राज्य में सृष्टि के नियमों के बन्धन में बान्धा हुआ है अपने कर्मानुसार । अपने आपको ब्रह्म कहने से वह कर्मों के फल से बच नहीं सकता । आश्चर्य की बात तो यह है कि यह अद्वैतवादी जीव बन्धन में बांधा हुआ कर्मों का फल दु:ख-सुख भी भोगता जाता है और साथ ही यह भी कहता जाता है "अहम् ब्रह्मास्मि" "मैं बन्धनरहित, आनन्दस्वरूप, (शुद्धमपापविद्धम्) शुद्ध, पाप से रहित, सृष्टि का रचयिता ब्रह्म

हूँ।" पापों के दण्ड भुगतने वाला पापी जीव अपने आपको ब्रह्म ही कहता है।

इसका कारण उसका अज्ञान है।

ओ३म्

जो परमात्मा का स्वाभाविक निज नाम है यदि इसी पर विचार किया जाये तो अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। ओम् अव् धातु से बनता है जिसका अर्थ है सब की रक्षा करने वाला। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी और चीज को न माना जाये तो वह रक्षा किसकी करता है? और रक्षा हमेशा अपने से कमजोर की की जाती है।

इसलिये ब्रह्म से अतिरिक्त, अल्पज्ञ, अल्प शक्ति वाले जीव का होना मानना ही पड़ेगा। यदि न मानोगे तो ओम् शब्द सार्थक ही नहीं हो सकता। यह जीव भी ब्रह्म की तरह अनादि अनन्त हैं क्योंकि ब्रह्म के गुण भी ब्रह्म की तरह अनादि अनन्त हैं इसलिये रक्षा करने का गुण भी ब्रह्म का अनादि अनन्त है। वह अनादि काल से जीवों की रक्षा करता चला आ रहा है और अनन्त काल तक करता चला जायेगा। इसलिये ओम् के रक्षा करने वाले गुण को अनादि काल से अनन्त काल तक सार्थक करने के लिये जीवों को भी अनादि अनन्त मानना पड़ेगा (काल से)।

उपसंहार

अन्त में इस पुस्तक के विषय का संक्षेप मात्र आपके आगे रखता हूँ:—

वेद के त्रैतवाद के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म, जीव और प्रकृति तीन अनादि सत्ताएं हैं।

परमात्मा अपने स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया से इस जगत् की रचना जीव के उद्धार के लिये करता है।

जीव का लक्ष्य है मोक्ष में ब्रह्मानन्द को प्राप्त करके उसे भोगना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये परमात्मा जीव को शरीर रूपी साधन देता है, और इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिये नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थ देता है। साथ ही ज्ञान भी देता है। जीव भौतिक ज्ञान से संसार के पदार्थों का सदुपयोग करके शरीर को स्वस्थ रखता है और आध्यात्मिक ज्ञान से साधना चतुष्टय से सम्पन्न होकर मुमुक्षु बन कर योगाभ्यास करता है और उपासक बनकर उपास्यदेव परमात्मा की उपासना करके, मोक्ष को प्राप्त होकर मोक्ष काल में ब्रह्मानन्द को भोगता है। मोक्ष काल की अवधि के समाप्त होने पर जीव फिर मनुष्य का शरीर धारण करके संसार में लौटता है। और पुनः पुरुषार्थ करता है मोक्षानन्द को प्राप्त करने के लिये, यह बन्धन और मोक्ष का चक्र अनादि काल से चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

अद्वैतवादी भाइयों का लक्ष्य भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है, इसलिये वह भी साधनाचतुष्टय से सम्पन्न होकर मुमुक्षु बनकर योगाभ्यास करते हैं और उपासक बनकर उपास्यदेव परमात्मा की उपासना भी करते हैं मोक्षानन्द को प्राप्त करने के लिये। परन्तु यह अपने आपको जीव नहीं अपितु ब्रह्म समझ कर उपासना करते हैं। यदि यह ब्रह्म ही हैं तो फिर यह अपने आपको उपासक और परमात्मा को उपास्यदेव क्यों मानते हैं? उपासक और उपास्यदेव दोनों के विना उपासना हो ही नहीं सकती और न ही उपासक और उपास्यदेव एक हो सकते हैं।

यह जगत् को झूठा (कल्पित) मानते हैं। यदि जगत् और उसके पदार्थ जो जीवन यात्रा के साधन हैं उनको झूठा मान लिया जाये तो झूठे साधनों से सत्य ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है!

वास्तविक बात यह है कि अज्ञान का अन्धेरा भी रात्रि के समान होता है और ज्ञान का प्रकाश दिन के समान होता है। अज्ञान की रात्रि में मनुष्य जो कुछ भी करते हैं वह सब स्वप्न की तरह भूठे होते हैं क्योंकि उनसे सत्य स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती और जो कुछ वह ज्ञान के दिवस में ज्ञान के प्रकाश में करते हैं वह सब सत्य होता है क्योंकि उससे सत्य स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है। इसलिये अज्ञानियों के लिये यह जगत् स्वप्न है क्योंकि अज्ञान की रात्रि में वह जो कुछ भी करते हैं वह स्वप्नमात्र ही होता है। उस से जीवन लक्ष्य (परमात्मा) की प्राप्ति नहीं हो सकती परन्तु ज्ञानी विवेकी मनुष्यों के लिये यह जगत् स्वप्न नहीं अपितु जगत् के सब पदार्थ उनकी जीवन यात्रा के साधन हैं। भूठे साधनों से सत्य परमात्मा की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यह साधन अनित्य तो हैं परन्तु भूठे स्वप्न मात्र (कल्पित) नहीं। विवेकी मनुष्य ज्ञान के दिवस में ज्ञान के प्रकाश में जो कुछ भी करते हैं वह सब सत्य होता है स्वप्नमात्र नहीं होता।

जब हम अज्ञान की निद्रा में स्वप्न लेते हैं तो महात्मा हमको इस निद्रा से जगाते हैं यह कहते हुए "उत्तिष्ठत, जाग्रत, मा स्वपित" उठो अज्ञान की निद्रा से जागो। हमको जगा कर फिर ज्ञान का प्रकाश देकर कहते हैं कि अज्ञान के अन्धकारमय मार्ग को त्याग कर ज्ञान के प्रकाश में उठकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये काम करो। "जो जागत है, सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है" "याने जो ज्ञान के दिवस में, ज्ञान के प्रकाश में काम करते हैं वह सत्य परमात्मा को पाते हैं और जो अज्ञान की रात्रि में सोये रहते हैं वे जो कुछ भी करते हैं वह स्वप्न मात्र होता है जिससे उनको परमात्मा की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अज्ञानी स्वप्न के जगत् में रहते हैं और

अपने लक्ष्य को खो देतेहैं और ज्ञानी (विवेकी) मनुष्यों के लिये यह जगत् स्वप्न नहीं, वह ज्ञान के प्रकाश (दिवस) में सत्य काम करके अपने लक्ष्य (परमात्मा) को पा लेते हैं। अज्ञानी इस जगत् को स्वप्न ही कहते-कहते इस अमूल्य मनुष्य जीवन को खो देते हैं। इस लिये अज्ञानियों को प्रतिदिन परमात्मा से यह प्रार्थना करनी चाहिये :—

"असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय"।

ऐ ज्ञान स्वरूप परमात्मा ! हमको अज्ञान निद्रा की स्वप्न अवस्था से निकालकर अपने ज्ञान के प्रकाश की जागृत अवस्था (दिवस) में ले चल ताकि आपके ज्ञान के प्रकाश में जागकर, अज्ञान की अन्धकारमय स्वप्न अवस्था को त्याग कर, जीवन यात्रा के सत्य मार्ग पर तेरी पथप्रदर्शकता में चलकर, पाप कर्मों की ठोकरों से बचता हुआ, सत्य कर्म करता हुआ, मृत्यु को जीत कर, अमर होकर, तेरे चरणों में पहुँच कर, तुझ माता की आनन्दमय गोद में बैठकर तेरे आनन्दरूपी दूध को पीकर आनन्दित हो जाऊं।

अद्वैतवादी, मायावादी या अज्ञानवादी कहते हैं कि मायाका बना हुआ ब्रह्मांड, और ब्रह्माण्ड में जो कुछ हो रहा है और सब जीव कल्पित हैं याने इनका अस्तित्व नहीं, स्वप्न की तरह यह सब कुछ झूठा (कल्पित) है। और साथ ही यह कहते हैं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह सब कुछ ब्रह्म ही है। जब सब कुछ ब्रह्म ही है और सब कुछ कल्पित है तो फिर ब्रह्म भी कल्पित हुआ। महाभारत का युद्ध भी कल्पित, अर्जुन का शरीर भी, बुद्धि भी और जीव भी कल्पित, कृष्ण महाराज भी कल्पित और उनका कल्पित-अर्जुन को दिया हुआ उपदेश (गीता) भी कल्पित। तमाम जीव भी कल्पित और इन कल्पित जीवों को कल्पित

ब्रह्मका दिया हुआ वेदज्ञान भी कल्पित। जब सब कुछ कल्पित ही है तो फिर यह ज्ञान किसको हो रहा है कि यह सब कुछ कल्पित है ? न ब्रह्म है, न जीव है न प्रकृति (माया) है। केवल एक कल्पना ही कल्पना है। यह एक हास्यास्पद सिद्धान्त बन जाता है।

इस लिये वेद के सत्य-सिद्धान्त त्रैतवाद को ही मान लेना चाहिये।

परमात्मा, जीव और माया (प्रकृति) तीनों ही सत्य पदार्थ हैं और तीनों का अपना-अपना अस्तित्व है। ब्रह्मांड की रचना परमात्मा ने उपादान कारण (माया, प्रकृति या matter) से की है। ब्रह्मांड के हर एक पदार्थ में उसका उपादान कारण (प्रकृति) नजर आ रहा है और रचना में रचयिता (कारीगरी में कारीगर) नजर आ रहा है। और शरीर में तीनों चीजें नजर आ रही हैं शरीर में शरीर का उपादान कारण जड़ प्रकृति साफ नजर आ रही है, शरीर की कारीगरी में चेतन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा नजर आ रहा है और शरीर के उपकरणों से काम लेने वाला चेतन जीवात्मा नजर आ रहा है।

यह सब कुछ ब्रह्म नहीं अपितु ब्रह्म इस सब कुछ में व्यापक होकर अपने आपको जाहिर कर रहा है।

आओ, अन्त में हम सब अल्पज्ञ जीव मिलकर उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, आनन्दस्वरूप सृष्टि के रचयिता, प्राण-प्रिय परमात्मा को वेद माता के शब्दों में नमस्कार करें:—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ अथर्व० ११।४।१

अर्थात्—(यस्य सर्वमिदं वशे) जिसके वश में यह सब कुछ

(ब्रह्माण्ड में जड़ प्रकृति से बने हुए अनेक जड़ पदार्थ और अनेक चेतन जीव) हैं (यो भूतः सर्वस्येश्वरो)जो सब का स्वामी है (यस्मिन्त्सर्वं प्रति-स्थितम्) और जिसमें यह सब कुछ समाया हुआ है (प्राणाय नमः) उस प्राण प्रिय ब्रह्म को नमस्कार हो।

वह अद्वैत याने अद्वितीय (अनुपम) ब्रह्म जो हम उपासक जीवों का उपास्यदेव है, उसको बार-बार नमस्कार हो ।।

इति अलम्